कवि-कुल-कुमुद-कलाधर-श्रीहर्षप्रणीतम्

नैषधीयचरितम्

[सर्गत्रयात्मकम्]

सान्वय-संस्कृत-हिन्दीटीकासहितम्

महोपाध्यायमल्लिनाथसूरिविरचितया

'जीवातु' व्याख्यया युतम्

श्रीमन्नालाल अभिमन्युः, एम० ए०, इत्यनेन

कृतया 'मदयन्तिका' हिन्दीटीकया समेतम्

प्रकाशक:—

छन्नूलाल ज्ञानचन्द पाठक

संस्कृत पुस्तकालय,

[illegible]गली, बनारस सिटी।

मूल्यम्-२) ११)

प्रकाशकः--

छन्नूलाल ज्ञानचन्द पाठक,

अध्यक्ष, संस्कृत पुस्तकालय,

कचौड़ीगली, बनारस सिटी।

समर्पण पत्र

लब्धप्रतिष्ठ स्वदेशव्रतानुरागी, सुर-भारती के अनन्य उपासक,
सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार, पत्रकार-व्योम के राका शशी,
प्राच्य-पाश्चात्यभाषाविद्, विविधगुणगणालङ्कृत,
कला-कानन-विहरणशीलकृष्णसार, लोकप्रिय
नेता, कमला एवं सरस्वती के मूर्तिमान्
अवतार, उत्तर प्रदेशीय सूचना
तथा सिंचाई सचिव

माननीय पण्डित श्रीकमलापतिशास्त्री

महोदय

के

कोमल कर-कमलों में 'मदयन्तिका' टीका सहित
नैषध चरित का यह संस्करण
सादर, सस्नेह
समर्पित

समर्पक—
मन्नालाल अभिमन्यु

✽ वन्दे मातरम् ✽

भूमिका

संस्कृत-साहित्य-क्षितिज में तीन बृहन्नक्षत्र अपनी कमनीय कान्ति बिखेर रहे हैं। 'नैषध, किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध' नामक बृहत्त्रयी का अखिल विद्वद्वर्ग में अतीव आदर है। संस्कृत-साहित्याटवी में अगणित महाकाव्य-मृगाधिपों के होते हुए भी हमारा भारतीय समाज इसी बृहत्त्रयी के अध्ययन में अपने बहुमूल्य समय का सदुपयोग करता है। संस्कृत महाकाव्य में व्युत्पत्ति पैदा करने के समुद्देश्य से बृहत्त्रयी का मनन करना नितान्त आवश्यक है। इसके अशेषतः अध्ययन से, न केवल शब्दकोष में ही वृद्धि होती है, प्रत्युत नवीन रस भाव भङ्गी का परिज्ञान अत्युच्च कोटि का हो जाता है। परन्तु इधर कुछ दिनों से खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस प्रणाली में विश्रृंखला उत्पन्न हो गयी है।

जिनकी धवल कीर्ति-कौमुदी से आज दिन भी धरा-धाम प्रकाशमान हो रही है उन कविता-कामिनी-कान्त श्रीहर्ष के नाम से ऐसा कौन सुर-भारती-सेवी है जो परिचित न हो, अथवा जिसके कर्ण-कुहर में यह नाम न गया हो ? श्रीहर्ष को महाकवि जयदेव अपने प्रसन्नराघव नाटक की प्रस्तावना में कविता-कामिनी का हर्ष कहते हैं। महाकवि के शब्दों में—

यस्या'श्चौर'श्चिकुरनिकुरः, कर्णपूरो 'मयूरः'
'भासो' हासः, कविकुलगुरुः 'कालिदासो' विलासः।
'हर्षो' हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु 'बाणः'
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी-कौतुकाय ॥

किस सहृदय के हृदय को श्रीहर्ष की कविता-कामिनी की कमनीय कान्ति नहीं लुभाती ? अलङ्कारों की रमणीयता, भाषा का लावण्य, भाव का सौष्ठव, माधुर्य का मधुर सन्निवेश, पदों की कोमल कान्त अवली, श्लेषों की श्लिष्टता, प्रसादादि गुणों की गरिमा—इन सब ने मिल कर, श्रीहर्ष को कविता-कामिनी का वस्तुतः

हर्ष बना दिया । श्रीहर्ष काव्य-कला के कुशल कुलपति हैं; मानव-हृदय की सूक्ष्म अनुभूतियों के सच्चे पारखी हैं; चरित्र-चित्रण करने के अद्भुत चित्रकार हैं। इनकी तूलिका इतनी मँजी-मँजायी है कि कहीं भी अस्वाभाविक वर्ण को स्थान नहीं। भगवती त्रिपुरा से प्राप्त अपने अगाध पाण्डित्य को श्रीहर्ष ने कविता-कामिनी के कोमल कर-कमलों में अर्पित कर दिया।

श्रीहर्ष की कविता-कामिनी रुचिर वर्ण तथा पद से युक्त है; रस-भाव से परिपूर्ण है; कृत्रिमता से कोसों दूर है; और तरुणी नायिका की भाँति अखिल तरुणवृन्द के हृदय को हठात् अपनी ओर आकर्षित करती है । श्रीहर्ष की रस-भाव-मयी कविता के अधर का आस्वादन कर, सहृदय भावुकजनों के हृत्पयोधि में हर्ष की लहरी अठखेलियाँ करने लगती हैं। जिस प्रकार अनङ्ग अङ्गना के द्वारा अखिल विश्व को मोहित करता है, उसी प्रकार श्रीहर्ष की कविता की शब्द-शय्या अपने सौष्ठव, सौन्दर्य, सौकुमार्य द्वारा काव्य-कानन-विहरण-शील पुरुषों के मन को उद्वेलित करती है। उनकी कविता में एक आश्चर्यजनक अनूठापन है। थोड़ा पढ़ लेने पर, अधिक जाननेकी,आगे बढ़ने की,एक मधुर वेदना हृदय में उठती है।

उन्हीं महाकवि का नैषध काव्य सन्तप्त-हृदय काव्यपिपासुओं के लिए सुधा की निर्झरिणी है, भारतीय चातकों के लिए स्वाती की बूँद है, राष्ट्र के लिए गर्व की वस्तु है और विश्व को अनुपम देन है। यद्यपि यह कहा गया है कि—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥'

तथापि विद्वद्वर्ग उच्च स्वर से पाञ्चजन्य घोष करता है कि—

'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः ? क्व च भारविः ?'

इसकी पुष्टि निम्नाङ्कित उक्ति से भी होती है कि—

'नैषधं विद्वदौषधम् ।'

आइये, ऐसे विद्वत्कुलचक्रचूडामणि के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त कीजिए।

यह बात तो लोक-प्रसिद्ध है कि संस्कृत-साहित्य के महाकवियों ने अपने सम्बन्ध में या तो लिखा ही नहीं है, या इतना स्वल्प लिखा है कि उनके जीवन की कुछ महान् घटनाएं अस्पष्ट सी रह जाती हैं।

जीवनवृत्त

हर्ष की बात यह है कि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के प्रति सर्ग के अन्तिम श्लोक में अपने माता-पिता का नाम,

अपनी रचनाओं का निर्देश तथा ग्रन्थ के अन्त में अपने आश्रयदाता की ओर मूक सङ्केत किया है। इसके अतिरिक्त राजशेखर सूरि ने सन् १३४८ ई० में रचित अपने 'प्रबन्धकोष' में श्रीहर्ष का संक्षिप्त जीवनचरित दिया है। अतः प्राप्त-सामग्री के आधार पर उनका जीवन चरित लिखने का प्रयास किया जा रहा है।

श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर तथा माता का नाम श्री मामल्ल देवी था। श्रीहीर वस्तुतः कवि-राज-राजि-मुकुटालङ्कार के हीरक मणि थे। वे काशी के गहरवार-नरेश श्रीविजयचन्द्र के सभापण्डित थे। एक बार वे सभा में मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक श्रीउदयनाचार्य से शास्त्रार्थ में हार गये। इससे उन्हें अत्यन्त मार्मिक पीडा हुई। वे सुरलोक की यात्रा करते समय अपने पुत्र से कह गये कि हे बेटा! मुझे अपनी पराजय का अतीव क्लेश है। मैं परलोक में भी शान्ति एवं सद्गति न प्राप्त कर सकूंगा। अतः मैं तुम्हें उसी दिन अपना सुपुत्र मानूंगा—जिस दिन तुम अपने पिता के विजेता पण्डित को शास्त्रार्थ में पराजित कर, अपने पिता के अपमान का बदला लोगे। इस परीक्षा–पाथोधि में सफल मनोरथ होने के लिए श्रीहर्ष ने भगवती जाह्नवी के तट पर बैठ कर, साल भर तक चिन्तामणि मन्त्र का जाप किया। जिससे प्रसन्न होकर भगवती त्रिपुरा ने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर, पाण्डित्य के अगाध सागर होने का अमोघ वरदान दिया। उन्हें असाधारण कवित्व शक्ति प्रस्फुरित हुई और वे तत्काल विजयचन्द्रदेव की राजसभा में गये। जाते ही उन्होंने राजा का इन श्लेषात्मक वाक्यों द्वारा अभिनन्दन किया—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च माऽस्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥

इसे सुनकर समस्त सभासदों के साथ महाराज बड़े प्रसन्न हुए। उनके अगाध पाण्डित्य को देखकर, उनके पिता के विजेता ने भी सर्वतोभावेन अपनी पराजय स्वीकार कर ली। इस प्रकार पिता की अन्तिम आज्ञा का पालन कर, वे पितृ-ऋण से उन्मुक्त हो, उन्होंने पिता का वाङ्मय तर्पण किया। तत्पश्चात् वे जयचन्द्र की सभा में स-सम्मान निवास करने लगे। उन्होंने राजा के अत्यन्त आग्रह करने पर नैषधचरित की रचना की।

श्रीहर्ष के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि ये काव्य-प्रकाश-रचयिता श्रीमम्मटाचार्य के भागिनेय थे। वे अत्यन्त वृद्ध हो गये थे। जब इनका नैषध-

चरित तैयार हो गया तो उन्होंने भारतविख्यात आलोचक श्रीमम्मट के सम्मुख रखकर, उनकी सम्मति के लिए वाञ्छा प्रकट की। आचार्य मम्मट ने पुस्तक को सावधानी के साथ पढ़ने के लिए रख लिया और अपनी सम्मति प्रदान करने के लिए दूसरे दिन बुलाया। जब ये दूसरे दिन पहुँचे तब उन्होंने इन शब्दों में मार्मिक चुटकी ली कि 'हे हर्ष! यदि तुम्हारा काव्य मुझे काव्य-प्रकाश-प्रणयन के पूर्व मिला होता तो सप्तम उल्लास लिखने के लिए, संस्कृत-साहित्याटवी के गहन-ग्रन्थों में से दोषान्वेषण करने का प्रयास न करना पड़ता, और एक इसी में सम्पूर्ण दोषों के दृष्टान्त मुझे मिल गये होते।' इस पर श्रीहर्ष ने कहा कि आप एकाध उदाहरण तो बतलाइए तब उन्होंने नैषध (२, ६२) का यह श्लोक सामने रख दिया--

दन्तकथा

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥

अर्थात् तुम्हारा यह श्लोक मङ्गल के स्थान पर अमङ्गल का सूचक है। पदच्छेद में किञ्चित् विभिन्नता कर के इसे पढ़ो और देखो कि वस्तुतः बात ठीक है या नहीं?

तव वर्त्म निवर्ततां शिवं, पुनरस्तु त्वरितं स माऽऽगमः।
अयि साधयसाधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥

अर्थः--तुम्हारा कल्याणदायक मार्ग बदल जाय। तुम फिर कभी लौटो ही नहीं। हे आधिसहित! मेरे अभीष्ट को मत पूरा करो। हे पक्षी! हमारे परलोक वासी होने के बाद समय-समय पर हमारा स्मरण कर लिया करना।

इस प्रकार अपने मामा की व्यङ्गपूर्ण सम्मति सुन कर, श्रीहर्ष खिन्नचित्त हो चुपचाप लौट आये। यह घटना सत्य है, किं वा असत्य--इस सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं। अस्तु, मैंने प्रचलित जनश्रुति का उल्लेख कर दिया।

श्रीहर्ष ने नैषध के अन्त में लिखा है कि--

कालनिर्णय

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।

इस से स्पष्ट है कि कान्यकुब्जेश्वर इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। अब यह प्रश्न उठता है कि इनके आश्रयदाता कान्यकुब्जेश्वर का क्या नाम था? तो उपर्युक्त प्रसङ्ग से आप को स्पष्ट हो गया होगा कि गहर-वार-राजपूत-कुल-भूषण

विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के ये सभापण्डित थे। इस प्रकार इनका अविर्भाव-काल द्वादश शताब्दी का उत्तरार्द्ध ठहरता है।

ये सकल शास्त्रनिष्णात, अतीव मेधावी, वादविवाद में अकुण्ठित बुद्धि सम्पन्न, ओजस्विनी वक्तृतादाता एवं अप्रतिभट पण्डित थे। यह बात पिता के पराजित करनेवाले का इनके द्वारा पराजित हो जाना, स्पष्ट करती है। इनकी रचनाओं का आदर उद्भट कवि-कुल-निवास-स्थल काश्मीर में हुआ था। यथा—

श्रीहर्ष की योग्यता

काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विद्वद्भिः महा०' (१६, १३०)

इस सम्बन्ध में भी एक जनश्रुति है कि ये किस प्रकार काश्मीर गये, किस प्रकार रचना-परीक्षा हुई, किस प्रकार काश्मीर नरेश की सभा में पहुँचे और किस प्रकार उन्हें पारितोषिक प्राप्त हुआ, आदि। परन्तु स्थानाभाव के कारण इसका उल्लेख नहीं करूंगा।

ये न केवल काव्यमर्मज्ञ थे, प्रत्युत महायोगी थे और समाधि- अवस्था में परम ब्रह्म का साक्षात्कार करते थे। यथा—

यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।

सत्रहवें सर्ग में कलि के मुख से समस्त आस्तिक मतों का खण्डन कराना तथा इन्द्र यम अग्नि वरुण द्वारा उनका निराकरण करना — इनके विलक्षण पाण्डित्य का द्योतक है।

इन्होंने कलि के मुख से पाणिनि के एक सूत्र की विचित्र व्याख्या करा डाली है। इनकी कल्पना एकदम निराली है। देखिए—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ (नैषध, १७,७०)

स्त्री तथा पुरुष प्रकृति दोनों काम (–उपभोग) में ही आसक्त रहा करें। जो स्त्री-पुरुष के लक्षणों से युक्त हैं तथा मैथुन में समर्थ हैं वे ही कामोपभोग के अधिकारी हैं। अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति—नपुंसकों—के लिए ही है। जो नपुंसक हैं, मैथुन कर्म में अशक्त हैं वे ही तीर्थयात्रा आदि करके मोक्ष का साधन करें। 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बनाकर पाणिनि ने भी इस बात को स्वीकार किया है।

ये कामशास्त्र के कितने गहन विद्वान् थे—यह नैषध के अन्तिम पाँच सर्गों के पढ़ने से स्पष्ट होता है।

श्रीहर्ष ने कई ग्रन्थरूपी पुष्प-स्तबकों द्वारा सुर-भारती की आराधना की है। सम्पूर्ण शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन करके, तत्तद्विषयों का प्रतिपादन जितना सुन्दर ढंग से इन्होंने किया है, उस भाँति किसी अन्य ने नहीं किया है। इनके बनाये हुए ग्रन्थों की तालिका नैषधीय चरित में ही दी गयी है। यथा—

ग्रन्थ—

१ **स्थैर्यविचारप्रकरण** (नैषध ४, १२३) २ **विजय-प्रशस्ति** (५, १३८)

३ **खण्डनखण्डखाद्य** (६, ११३) इसमें अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसकी टक्कर का कोई दूसरा ग्रन्थ अखिल वेदान्त-जगत् में नहीं है। यह वेदान्तशास्त्र का अनुपम हीरक मणि है और श्रीहर्ष की अलौकिक दार्शनिक पटुता का उच्च स्वर से डिण्डिम घोष कर रहा है। इस उच्चकोटि के ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन से विलक्षण प्रतिभा उत्पन्न होती है। काव्य-जगत् में जो स्थान नैषध का है, वही स्थान दर्शन-ग्रन्थों में खण्डनखण्डखाद्य को प्राप्त है। इसका मङ्गलाचरण बड़ा भव्य है—

अविकल्पविषय एकः, स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु।
ईश्वरसुमया न परं, वन्देऽनुमयाऽपि तमधिगतम्॥

४ **गौडोर्वीश-कुल-प्रशस्ति** (७, ११०) ५ **अर्णववर्णन** (६, १६०)

६ **छिन्द प्रशस्ति** (१७, २२२) ७ **शिवशक्तिसिद्धि** (१८, १५८)

८ **नवसाहसाङ्क चरित चम्पू** (२२, १५१)

९ **नैषधीय चरित**—इसमें निषध-नरेश महाराज नल का चरित्र अत्यन्त अलौकिक रीति से वर्णन किया गया है इसके प्रत्येक सर्ग में प्रायः १०० से अधिक श्लोक हैं। इस महाकाव्य में २२ सर्ग हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि नैषध में और भी सर्ग रहे होंगे—जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं। इसमें प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन प्राचुर्य के साथ किया गया है। उसमें अनुपम वैचित्र्य है। इसके पढ़ने से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि महाकाव्य के अशेष लक्षणों को सन्निविष्ट कर, उनको चरितार्थ करने ही के दृष्टिकोण से महाकवि अपनी रचना में प्रवृत्त हुआ है। महाकाव्यों का प्राकृतिक वर्णन भी एक आवश्यक अङ्ग है। इस नियम के अनुसार कवि ने उसको स्थान दिया है; पर प्रचलित परिपाटी या पुस्तकों के आधार पर प्रकृति-वर्णन नहीं किया है। प्रकृति-प्रमदा के रङ्ग-रूप एवं बाँकी छटा का भली-भाँति निरीक्षण कर, अनुभव के द्वारा उसके प्रत्येक अवयव को सजाया है।

यही कारण है कि वह इतना सजीव चित्रित हुई है। इस महाकाव्य के नायक निषधनरेश नल हैं–जो धीर, उदात्त गुणों से युक्त कुलीन क्षत्रिय हैं। प्रेम-पथ बड़ा बीहड़ होता है, उसमें पग-पग पर काँटे बिछे रहते हैं, उन काँटों का निर्मूलन कर नायक-नायिका का सुखान्त मिलन होता है। यही है नैषध चरित की घटना का संक्षेप में वर्णन।

कथावस्तु

नैषध की कथा-वस्तु महाभारतीय नलोपाख्यान (वनपर्व अ० ५२-७९) पर अवलम्बित है। इस ऐतिहासिक प्रणय-कथा को श्रीहर्ष ने अपनी कल्पना-सृष्टि से सजाया है और अपनी प्रतिभा द्वारा उसमें लावण्य का पुट दिया है। कथासरित्सागर में भी नल दमयन्ती की कथा आती है। यत्र-तत्र उसकी छाया भी नैषध में दिखायी पड़ जाती है।

आलोचना

श्रीहर्ष ने जो अपने महाकाव्य को 'शृङ्गारामृतशीतगु' (११, १३०), 'रसाम्भोनिधि' (१४, ५६), 'कृशेतर-रसास्वाद' (१५, ९३), 'अन्याक्षुण्णरस-प्रमेयभणिति' (१०, १९२) 'अतिनव्यकृति' (२१,१९३) कहा, सो उपयुक्त ही है। श्रीहर्ष रस का वर्णन करने में अतीव सिद्धहस्त हैं। वे मानव-हृदय के सच्चे पारखी थे। जिस कवि ने मानव-हृदय के भावों को भलीभाँति मनन नहीं किया, वह अपनी रचना में कदापि सफल मनोरथ नहीं हो सकता क्योंकि कविता जीवन की समालोचना है (*Poetry is Criticism of Life*). विभिन्न दशाओं में जिस प्रकार हृदय के भाव उदय होते हैं, उसी प्रकार उन्हें चित्रित कर देना, सरल कार्य नहीं है। समुचित भाव-चित्रण के लिए अनुभव की आवश्यकता होती है, कोरी कल्पना-शक्ति से काम नहीं चलता। 'कल्पना' और 'अनुभव' ही काव्य-गुम्फन के प्रधान अवयव हैं। इनके बिना न तो काव्य में रस आता है और न कविता ही कामिनी की भाँति प्रिया मालूम होती है।

नारी के सौन्दर्य का वर्णन करना कवियों को अतीव अभीष्ट है। वे रमणी के नख से शिख तक रूपराशि के वर्णन करने में अपना सारा कवित्व समाप्त कर देने में रञ्चमात्र भी नहीं हिचकते। हर्ष की बात है कि श्रीहर्ष भी अन्य महाकवियों की भाँति सुभगा-सौन्दर्य के वर्णन करने में पटु हैं। परन्तु इनमें वह विशेषता है, ऐसी मौलिक कल्पना है जो अन्यत्र देखने तक को भी नहीं मिल सकती।

दमयन्ती के केशकलाप से लेकर चरण पर्यन्त सर्वाङ्ग वर्णन २, २० से लेकर २, ९६ तक पढ़िए। श्रृङ्गार रस की सरसता देखते ही बनती है। पढ़नेवाला उस रस में आचूड सराबोर हो जाता है। सम्भोग श्रृङ्गार तथा विप्रलम्भ श्रृङ्गार कवियों के मनोरञ्जक विषय हैं। विप्रलम्भ के करुणमय वर्णन के बिना वे अपने को कृतकार्य नहीं समझते। श्रीहर्ष के काव्य में सम्भोग का प्रकाशमान रूप हमारे हृदय में हर्ष-कह्लार उत्पन्न करता है और विप्रलम्भ की करुणमूर्ति हमारे अन्तःकरण में उसी प्रकार करुणा उत्पन्न करती है, जिस प्रकार पराधीन भारत में पिकेटिङ्ग करती हुई महिलाओं के प्रति शासन-शकट का दुर्व्यवहार। श्रीहर्ष ने नल-दमयन्ती के सम्भोग वर्णन करने में पाठकों को सम्भोग की चासनी चखायी है। हंस को दूत बनाकर भेजने में नल ने उससे जो विरह-वेदना व्यक्त की है, उससे विप्रलम्भ की छटा देखते ही बनती है।

हंस का विलाप (१, १३५ से १, १४२ तक) करुणरस का सर्वोत्तम निदर्शन है। हमारे कवि को इसमें पूर्णतया सफलता मिली है। हंस कितने मार्मिक शब्दों में कहता है—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो॥

आप इसे ज्यों ज्यों पढ़ते जाइए त्यों त्यों हृदय पर इतना प्रभाव पड़ता है कि अन्त में आँखों को भी दो बूँद आँसू गिराना पड़ता है। धन्य है, कवि की वर्णनात्मक शैली को।

कविता-शैली अपने ढंग की अनुपम है। वह कृत्रिम नहीं, प्रत्युत अलङ्कृत है। प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में (उवाच, अपश्यत्) न हो कर अलङ्कृत भाषा ('अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा'—३, ९६; 'अक्षिलक्षीचकार,—२, १०७) में है।

अलङ्कारों के चयन में भी श्रीहर्ष ने कमाल किया है। उपमा के जो प्रधान गुण विषय को मर्मस्पर्शी एवं विशद बनाना, काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाना आदि है—वे गुण श्रीहर्ष की रचना में पाये जाते हैं, उनका पूर्ण विकास उनकी अतुलनीय उपमाओं में हुआ है। उपमाओं की लड़ी टूटती नहीं, उनकी उपमाएं एक से एक बढ़ कर अद्वितीय कल्पनामयी हैं। उनकी उपमा की अनुरूपता तथा नवीनता

के सम्बन्ध में निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि अखिल संस्कृत-साहित्य-संसार में उसके टक्कर की दूसरी नहीं। प्रत्येक श्लोक में शब्दश्लेष किं वा अर्थश्लेष पाया जाता है। हमारे पण्डित-समाज में 'पञ्चनली' (१३, ३४) तो प्रसिद्ध है— जहाँ एक श्लोक से पाँचों नलों का वर्णन किया गया है। क्या विश्व की किसी भी भाषा में यह सम्भव है ?

श्रीहर्ष की कविता की शैली उत्कृष्ट वैदर्भी है। वैदर्भी की प्रशंसा में वे स्वयं कहते हैं कि—

धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैः (३, ११६)

श्रीहर्ष की कविता नैसर्गिक सरिता के तुल्य है, कृत्रिम नहर की भाँति नहीं, जिसकी धारा का प्रवाह बड़े वेग से बहता चला जा रहा है। इनकी कविता में माधुर्य तथा प्रसाद गुण कूट-कूट कर भरे हुए हैं। सुन्दर अर्थों की कमनीयता अतीव मुग्धकारिणी है। इनका काव्य मौलिक अर्थों की खान है; उसमें अर्थों का पिष्टपेषण नहीं; सर्वत्र नवीन अर्थों का समावेश है।

स्थानाभाव के कारण उनकी कविताओं की बानगी और सूक्तियाँ नहीं दी जा रही हैं। आशा है, हमारे पाठक महोदय क्षमा करेंगे।

म० म० मल्लिनाथ की 'जीवातु' टीका के साथ यह संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। मूल में आये हुए शब्दों को स्थूलाक्षरों में और टीका में आये हुए

प्रस्तुत संस्करण

पर्यायवाची शब्दों को सूक्ष्माक्षरों में दिया गया है-जिस से अन्वय स्पष्ट हो जाता है। इस अभिनव शैली से छात्रों का बड़ा उपकार होगा। छात्रों को मूल श्लोक लग जाय—इस अभिप्राय से मैंने श्लोकों का शब्दार्थ देते हुए, उन्हीं के दृष्टिकोण से हिन्दी में अनुवाद किया है। मैं अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ—इसकी परख विद्यार्थी गण अपनी निकष-ग्रावा पर करें। साथ ही जो इसमें त्रुटि रह गयी हो, उसके लिए बारम्बार क्षमा प्रार्थी हूँ।

अन्त में उत्तर प्रदेशीय सरकार के सूचना तथा सिंचाई सचिव पण्डितवर श्री कमलापति त्रिपाठी जी को धन्यवाद देना अपना परम सौभाग्य समझता हूँ, जिन्होंने मेरी भेंट स्वीकार कर, अपने वंशक्रमानुगत सौजन्य का परिचय दिया है।

काशी
दीपावली सं० २००९

मन्नालाल अभिमन्यु

❀ श्रीमहागणाधिपतये नमः ❀

नैषधमहाकाव्यम्

जीवातु-मदयन्तिका-संस्कृत-हिन्दीटीकासहितम् ।

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥१॥

अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च काव्यालापांश्च वर्जयेदिति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिहेतोराशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमित्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य भूतिलक्षणं परम-मङ्गलं वस्तु निर्दिशति–**निपीयेति** । **क्षितिरक्षिणः**= क्ष्मापालस्य **यस्य**=नलस्य **कथाम्**=उपाख्यानं, **निपीय**=नितरामास्वाद्य । 'पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यप्'इति ल्यबादेशः । न तु पिबतेः न ल्यपीति प्रतिषेधादीत्वासम्भवात् । **बुधाः**=तज्ज्ञाः, सुराश्च । 'ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधाः' इति क्षीरस्वामी । **सुधामपि तथा**= यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः । **नाद्रियन्ते**=सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । **[सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः]** सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृतमित्यर्थः । 'तत्कृताविति' ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः । कीर्तिमण्डलं येन सः । **महसां**=तेजसां, **राशिः**=रविरिवेति भावः । **[महोज्ज्वलः]** महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानः, नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः । 'मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः । **स**=नलः **आसीत्** । अत्र नले महसां राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् [illegible] संसृष्टिः । तदुक्तं दर्पणे–रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति । 'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यून-

ताऽथवा। व्यतिरेक इति मिथोऽपेक्षायै तेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति च । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जराविति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

जिस नरपति के उपाख्यान का रसास्वाद कर, बुध-जन (विद्वान् तथा विबुध गण) अमृत का भी वैसा समादर नहीं करते थे (जैसा उसकी मधुर कथाओं का करते थे)—ऐसे कीर्तिमण्डल को अपना श्वेतछत्र बनानेवाले, तेजशाली (सूर्य के समान), और महोज्ज्वल (नित्य उत्सव करनेवाले) नल नाम के एक राजा थे ॥१॥

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी नलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः ।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥२॥

इममेवार्थमन्यथा आह-**रसैरिति** । **यस्य**=नलस्य **कथा रसैः**=स्वादैः । 'रसो गन्धः रसः स्वाद' इति विश्वः । [**सुधावधीरिणी**] सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता, अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत् ताच्छील्ये णिनिः । [**भूजानिः**] भूर्जाया यस्य स भूजानिः, भूपतिरित्यर्थः । जायाया निङिति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः । **स नलः** [**गुणाद्भुतः**] गुणैः शौर्यदाक्षिण्यादिभिः अद्भुतः, लोकातिशयमहिमेत्यर्थः । **अभूत्** । कथम्भूतः ? [**सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः**] सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रञ्च ते कृते । द्वन्द्वात् तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्त्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः । अप्रतिहतकीर्तिप्रताप इत्यर्थः । इह कीर्तेः सितातपत्रत्वरूपणं पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः । अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेक-रूपकयोः संसृष्टिः ॥ २ ॥

जिनकी कथा रसों (मधुर स्वादों, श्रृंगारादि रसों) द्वारा अमृत का भी तिरस्कार करती है—ऐसे भूपाल नल अद्भुत गुणशाली, उज्ज्वल प्रताप को सुवर्ण दण्ड तथा कीर्तिमण्डल को श्वेत छत्र बनानेवाले थे ॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा ।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति—**पवित्रमिति** । **अत्र युगे** कलौ इति यावत् । [**यत्कथा**] यस्य नलस्य, कथा, **स्मृता**=स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः । सती, **जगत्**=लोकं **रसक्षालनयेव**=जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा । 'देहधात्वम्बुपारदाः' इति रसपर्याये विश्वः । **पवित्रं**=विशुद्धम्, **आतनुते**=करोति, **सा**=कथा, **आविलां**=कलुषामपि, सदोषामपीति यावत् । **स्वसेविनीमेव**=केवलं स्वकीर्तनपरामेवेति भावः । **मद्गिरं**=

मम वाचं, कथं न पवित्रयिष्यति=अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः । तथा चोक्तं—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च । ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्' इति । या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात् किमुतेति कैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्—एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत् । कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' इति ॥ ३ ॥

जिनकी कथा का स्मरण इस कलियुग में जल से धुले हुए की भांति विश्व को पवित्र करनेवाली है । फिर भला, वह कथा मेरी वाणी को क्यों न पवित्र करेगी—जो कलुष (साहित्यिक दोषों) से पूर्ण होने पर भी उसकी आराधना में अनुरक्त है ॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥ ४ ॥

अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह—अधीतीति । अयं=नलः, चतुर्दशसु विद्यासु=वेदवेदाङ्गादिषु । 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश' इत्युक्तासु । [अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः] अधीतिरध्ययनं, गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः । बोधः अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः । तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः=विशेषणैः, आचरणविशेषैरित्यर्थः । 'उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे' इति विश्वः । चतस्रो दशाः=अवस्थाः, प्रणयन्=कुर्वन्नित्यर्थः । स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं । 'त्वतलोर्गुणवचनस्येति पुंवद्भावो वक्तव्यः' इति स्त्रियाः पुंवद्भावः । संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना इति सम्प्रदायः । चतुर्दशसंख्याकत्वं, कुतः=कस्मात्, कृतवान्, न वेद्मि=न जाने इति, स्वतःसिद्धस्य स्वयं करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम् । चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च । तदुक्तम्—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति ॥ ४ ॥

नल ने चौदह विद्याओं (४ वेद, ६ वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण) की—अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण और शिक्षाप्रचाररूपी चार उपाधियों से, चार अवस्थाएँ बनाकर भी उनका चतुर्दशत्व कैसे बने रहने दिया ? (वे १४×४=५६ क्यों न हुईं ?)—यह मुझे नहीं मालूम ॥ ४ ॥

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।

अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥ ५ ॥

अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह—**अमुष्येति**। अमुष्य = नलस्य **रसनाग्रनर्त्तकी** = जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः। **विद्या** = पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते रसनाग्रनर्त्तित्वधर्म्मादिति भावः। **त्रयीव** = त्रिवेद इव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी' इत्यमरः। [**अङ्गगुणेन**] अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः। ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैः' इत्युक्तानां। षण्णां मधुराऽम्ल-कषाय-लवण-कटु-तिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्त्या वैशिष्ट्येन च। अथ च **अङ्गगुणेन**=शरीरसामर्थ्येन, स्वकीयव्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत्। **विस्तरं** = वृद्धिं, **नीता** = प्रापिता सती, [**नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियां**] नवानां द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः। तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः, तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षा। जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः। **अष्टादशताम् अगाहत** = अभजत। पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उल्बणानुल्बणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः। प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः। 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादश स्मृताः' इति। अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्यायविश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारः' इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः। त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम्। उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥५॥

पर, जिस तरह त्रयीविद्या (तीनों वेद) षडङ्गों से गुणित होने पर १८ संख्यान्वित हो जाती है—उस तरह नल के जिह्वाग्र पर नर्तन करनेवाली विद्या (सरस्वती)—मानों १८ द्वीपों की पृथक् पृथक् (नल की) विजयसूचक लक्ष्मी को (सपत्नी भाव से) जीतने की कामना से ही—१८ गुनी हो गयी ॥ ५ ॥

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६॥

अथास्य देवांशत्वमाह—**दिगीशेति**। [**दिगीशवृन्दांशविभूतिः**] दिशामीशा दिगीशाः, दिक्पाला इन्द्रादयः, तेषां वृन्दं समूहः, तस्य मात्राभिः अंशैः, विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः। तथाच—'इन्द्राऽनिल-यमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः' इति। 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो

नृपः' इति च स्मृतेः । दिशाम् ईशिता=ईश्वरः स=नलः, शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचननिर्देशात् । इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम्, अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते । [कामप्रसभावरोधिनीं] कामम् इच्छा मदनश्च, मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं, कन्दर्पदहनकारिणीञ्चेत्यर्थः । कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः । [निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां] निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् । अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरि' इति कृद्योगसमासस्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः । 'तत्प्रयोजकः' इत्यादि सूत्रकारप्रयोगदर्शनादिति बोध्यम् । द्वयाधिकां=तृतीयामित्यर्थः । [शास्त्राणि]दृशं=नेत्रं, बभार=दध्रे । एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते । शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेयरूपकमद्वयम् । 'अवतर' इत्यत्राऽप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुप्सुपा' इति समासः । न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः । अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम् ॥६॥

दिग्पालों के अंशों की विभूति (उत्पत्ति, भस्म) धारण करनेवाले, दिशाओं के ईश (शासक, शिव) नल—काम की प्रबलता को रोकनेवाली (स्वेच्छाचारनिवारिणी; मदनदहनकारिणी) अपने त्रिनेत्र (शंकर) के अवतार का बोध करानेवाली दो से अधिक अर्थात् तीसरी शास्त्ररूपी आँख रखते थे ॥ ६ ॥

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥ ७ ॥

अथास्य प्रभावं दर्शयति—पदैरिति । **अमुना**=नलेन, **कृते**=सत्ययुगे, **सुकृते**=धर्मे वृषरूपत्वात् । **चतुर्भिः पदैः**=चरणैः । 'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः । **स्थिरीकृते**=निश्चलीकृते इति यावत् । **के**=जनाः, **तपः**=चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं, का कथा ज्ञानादीनामिति भावः । **न प्रपेदिरे**=अपि तु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थः । **यत्** यतः, **अधर्मोऽपि**, का कथा अन्येषामित्यपिशब्दार्थः । **कृशः**=दुर्बलः सन्, [**एकाङ्घ्रिकनिष्ठया**] एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य, कनिष्ठया कनिष्ठया अङ्गुल्येत्यर्थः । **भुवं स्पृशन्** । कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादर्शनेति भावः । **तपस्वितां**=तापसत्वं, दीनत्वञ्च । 'मुनिदीनौ तपस्विनौ' इति विश्वः । **दधौ**=धारयामास । अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत् । किमुत अन्य इति । कैमुत्यन्यायादर्थान्तरा-

पत्या अर्थापत्तिरलङ्कारः । अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

इन्होंने कृत (सत्य) युग में धर्म को (तप, ज्ञान, यज्ञ, दान रूपी) चारों चरणों से स्थिर कर दिया था। फिर भला ऐसा कौन मनुष्य था—जो तप न करता ? यहाँ तक कि अधर्म भी दुर्बल होकर, एक पैर की एक कानी अंगुलि (लेश मात्र) से भूमि पर स्पर्श (पृथ्वी पर खड़ा हो) कर, तप में लग गया ॥ ७ ॥

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति—**यदित्यादिभिः** । **अस्य** = नलस्य, **यात्रासु** = जैत्रयानेषु, **बलोद्धतं** = सैन्योत्थितं [**स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम**] स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं । 'सप्तम्युपमाने'इत्यादिना बहुव्रीहिः । मञ्जुशब्दादिमनिच्प्रत्ययः । **यत् रजः**=धूलिः, **तदेव गत्वा**, उत्क्षेपवेगादिति भावः । **सुधाम्बुधौ** = क्षीरनिधौ [**पङ्कीभवत्**] पतितम् अत एव पङ्कीभवत् सत् । **विधौ** = चन्द्रे तद्वासिनीति भावः । **अङ्कतां**=कलङ्कत्वं **दधाति** । अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथाच कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः ॥८॥

दिग्विजय के अवसर पर, नल की सेना से उड़ायी गयी धूलि—जो प्रताप रूपी जलती हुई आग के धूँए के सौन्दर्य के समान थी, वह—क्षीरसागर में जाकर गिर पड़ी; इसी लिए अत्यधिक कीचड़ होकर चन्द्रमा में कालापन धारण करती है ॥८॥

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुग-प्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ।
निजस्य तेजःशिखिनः परःशता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ॥ ९ ॥

स्फुरदिति । **सङ्गरे** = युद्धे, शतात् परे **परःशताः** = शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत् । पञ्चमीति योगविभागात् समासः । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च । **परे** = शत्रवः [**स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य**] स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ, धनुर्निस्वनौ चापघोषौ, इन्द्रचापगर्जिते च, यस्य यत्र वा तथोक्तः, सः नल एव घनः मेघः, तस्य आशुगानां शराणाम्, अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी, यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना, या प्रगल्भा महती वृष्टिः । 'आशुगौ वायुविशिखौ'इत्यमरः । तया व्ययितस्य निर्वापितस्य । विपूर्वादयतेः कर्मणि क्तः । **निजस्य तेजःशिखिनः** = प्रतापाग्नेः, **अङ्गार-**

मिव **अयशः** = अपकीर्त्तिं, **वितेनुः** = विस्तारितवन्तः, पराजिता इति भावः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥ ९ ॥

युद्ध में उसके असंख्य शत्रुओं ने–प्रकाशमान धनुष (नल धनुष, इन्द्र धनुष) और गर्जते हुए घन (निरन्तर, बादल) की वर्षा की भाँति प्रबल शर-वर्षा करनेवाले (मेघरूपी) नल के सामने–अपनी बुझी हुई प्रतापाग्नि के अंगारों के समान–अपकीर्ति का विस्तार किया ॥ ९ ॥

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥१०॥

अनल्पेति । राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति **राजघः** = शत्रुघातीत्यर्थः । 'राजघ उपसंख्यानम्'इति निपातः । **स** = नलः [**अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः**] अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः । अनलवद् उज्ज्वलाः तैः । **निजप्रतापैः** = कोषदत्तसमुत्थतेजोभिः । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्'इत्यमरः । **ज्वलत्** =दीप्यमानं, **भुवः वलयं** = भूमण्डलं, **प्रदक्षिणीकृत्य** = प्रदक्षिणं परिभ्रम्य । क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वादिति भावः । **जयाय सृष्टया**=सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरिति शेषः । **नीराजनया** = आरार्तिकया, **रराज** = शुशुभे । दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः । केचित्तु निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयार्थयेवेत्यर्थः । नीराजनया आरार्त्तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज । अत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा । व्यञ्जकाद्यप्रयोगाद्गम्या इति व्याचक्षते तन्न समीचीनं, निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिकरण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

राजोच्छेत्ता नल, विजय के लिए शत्रुओं की नगरियों को खूब जलानेवाली अग्नि से उज्ज्वल (प्रकाशमान) हुए, निज प्रताप से देदीप्यमान पृथ्वी की प्रदक्षिणा करके, आरती द्वारा सुशोभित हुआ ॥१०॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः ।
न तत्यजुर्नूनमनन्यशरणाः प्रतापभाजमपीदृशां दृशः ॥११॥

निवारिता इति । **तेन** = नलेन, **अखिले** = समग्रे, **महीतले**, [**निरीति-**

भावं] न सन्ति ईतयः अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत् निरीतिः, तस्य भावः, तम् । ईतिराहित्यमित्यर्थः । ईतयश्चोक्ताः—यथा, अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृता इति । गमिते=प्रापिते सति निवारिताः= स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः । अतिवृष्टयः [अनन्यसंश्रयाः] नास्ति अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः सत्यः, [प्रतीपभूपालमृगीदृशां] प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां, या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः, तासां । दृशः = नयनानि न तत्यजुः । नूनं=मन्ये इत्यर्थः । उत्प्रेक्षावाचकमिदं तदुक्तं दर्पणे—मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश इति । नल-निहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः ॥ ११ ॥

उन नल के द्वारा अतिवृष्टि तो अखिल भूमण्डल से निरीतिभाव को प्राप्त हो गयी । तब वह शत्रु राजाओं की मृगनयनियों के नयनों में जाकर रहने लगी क्योंकि अतिवृष्टि को अन्यत्र आश्रय नहीं मिला—ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ११ ॥

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गावरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरीतुरी ॥१२॥

सितांश्विति । [महासिवेम्नः] महान् असिरेव वेमा वायदण्डः । 'पुंसि वेमा वायदण्डः' इत्यमरः । तस्य । सहकृत्वरी=सहकारिणी । 'सहे च' इति करोतेः कनिप्प्रत्ययः । 'वनो र च' इति ङीप् रश्च । [तद्भटचातुरीतुरी] तस्य नलस्य, भटानां सैनिकानां, यद्वा स नल एव भटः वीरः, तस्य चातुरी चतुरता, नैपुण्यमिति यावत्, एव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः। माकु इति प्रसिद्धा। [रणाङ्गणे] रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् । सितांशुवर्णैः=शुभ्रैरित्यर्थः । [तद्गुणैः] तस्य नलस्य गुणैः शौर्य्यादिभिः, तन्तुभिश्च । [दिगङ्गनाङ्गाभरणं] दिश एव अङ्गनाः, तासाम् अङ्गावरणम् अङ्गाच्छादनं । बहुं, [यशःपटं] यश एव पटः वसनं तं । वयति स्म = ततान । साङ्गरूपकमलङ्कारः । संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः ॥१२॥

नल के चन्द्रमा-तुल्य गुणों (दया आदि गुण, तागा) से, तलवार रूपी करघे के सहारे, उसके सैनिकों की चातुरी रूप तुरी (ढरकी) ने—रणाङ्गण में दिशा रूपी नायिकाओं के अङ्गों को ढँकने के लिए, बहुत लम्बी कीर्ति रूपी साड़ी बुनी ॥ १२ ॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक् चारदृगप्यवर्तत ॥१३॥

प्रतीपेति। [प्रतीपभूपैः] प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः। **विरुद्धधर्मैः** =असमानाधिकरणधर्मैः। विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः। **अपि, ततः**=नलात्, भिया=भयेन, इव=हेतुना। **भेत्तृता** स्वाश्रयभेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः। उज्झिता=त्यक्ता किम्? **यत्**=यस्मात्, **स**=नलः, **ओजसा**=तेजसा [**अमित्रजित्**] अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः। [**मित्रजित्**] मित्रं सूर्यं जयतीति तथाभूतः। अत्र यः खलु अमित्रजित्, स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः [**विचारदृक्**] तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक्। [**चारदृक्**] चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक्। 'राजानश्चारचक्षुषः' इति। 'चारैः पश्यन्ति राजानः' इति च नीतिशास्त्रम्। अत्रापि यो विचारदृक्, स कथं चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। **अवर्त्तत**=आसीत्। अपिर्विरोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशञ्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजापादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः ॥१३॥

प्रतिकूल राजाओं के समान, उसके भय से विरोधी स्वभावों ने भी अपनी विरुद्धता छोड़ दी थी; क्योंकि वे तेज के द्वारा अमित्रजित् (वैरियों को जीतनेवाला) होकर भी मित्रजित् (१ मित्रों को जीतनेवाले २ सूर्य से बढ़कर प्रभाशाली) थे और चार-चक्षु (गुप्तचरों के द्वारा देखनेवाले) होकर भी विचार-चक्षु (१ बिना चारचक्षु के २ विचार शक्ति के द्वारा देखनेवाले) थे ॥१३॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥१४॥

तदिति। [**तदोजसः**] तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः, तस्य तथा। [**तद्यशसः**] तस्य नलस्य यशः तस्य, **स्थितौ**=सत्तायाम्। **इमौ**=भानु-विधू, वृथा=निरर्थकौ, **इति चित्ते यदा यदा कुरुते**=विवेचयतीत्यर्थः। **विधिः**। तदा तदा, [**परिवेषकैतवात्**] परिवेषः परिधिः, 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छद्मं तस्मात्। **भानोः**=सूर्यस्य, **विधोरपि**=चन्द्रस्य च, **कुण्डलनां**=अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः। **तनोति**=करोति; अधिकाक्षरवर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्पर्य्यम्। अत्र

प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनाद् अपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे--'प्रकृतं प्रतिषिद्धयान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः' इति । प्राचीनास्तु-परिवेषमिषेण सूर्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा, सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः ॥ १४ ॥

जब-जब ब्रह्माजी अपने मनमें यह सोचते हैं कि नल के प्रताप और यश के सामने ये--सूर्य तथा चन्द्र--वृथा हैं, तब-तब वे मण्डल के बहाने सूर्य-चन्द्र के चारों ओर शून्य (गोल घेरा) बना देते हैं ॥१४॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नलः ॥१५॥

अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति **अयमिति**। **विभज्येति** च। [**अल्पितकल्पपादपः**] अल्पितः अल्पीकृतः निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति भावः। कल्पपादपः कल्पतरुः, वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः, स **नलः**। [**दारिद्र्यदरिद्रतां**] दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्। **प्रणीय** = कृत्वा, दरिद्रेभ्यः प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः। **अयं दरिद्रः** अभाववानिति यावत्, **भविता इति, अर्थिजनस्य** = याचकजनस्य, **ललाटे, जाग्रतीं** = दीप्यमानामिति यावत्। [**वैधसीं**] वेधस इयं वैधसी तां, **लिपिं, मृषा** = मिथ्या, **न चक्रे** = न कृतवान्। विधातुर्लिपौ सामान्यतः दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः पापदरिद्रः ज्ञानदरिद्र इत्यादिप्रयोगदर्शनाद् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

याचकों के ललाट पर लिखी हुई 'यह दरिद्र होगा' इस ब्रह्मा की लिपि को नल ने मिथ्या नहीं किया, उस में केवल इतना सुधार (दान देकर) कर दिया कि 'यह दारिद्र्य का दरिद्र होगा;' क्योंकि उन्होंने (अपने दान से) कल्पवृक्ष को भी छोटा बना दिया ॥ १५ ॥ अप्रस्तुत प्रशंसा।

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ॥१६॥

विभज्येति । मेरुः=हेमाद्रिः, **विभज्य** = विभक्तीकृत्य, **अर्थिसात्**=अर्थिभ्यो देयः, **न कृतः**। "देये त्रा च" इति सातिप्रत्ययः। **सिन्धुः**=समुद्रः

[उत्सर्गजलव्ययैः] उत्सर्गजलानां व्ययः दानाम्बुप्रक्षेपः । मरुः=निर्जलदेशः, न कृतः इति यत्, तत्=तस्मात्, तेन=नलेन, द्विफालबद्धाः = द्वयोः फाल्योः शिरःपार्श्वयोः बद्धा रक्षिता इति यावत् । फलतेर्विशरणार्थे अप्प्रत्ययः । विलासिनां पुंसां सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्धत्वमिति भावः । द्विधा विभक्ता इति यावत् । चिकुराः = केशाः । चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः । शिरःस्थित = मस्तकधृतमिति भावः । [निजायशोयुगं] निजं स्वीयम्, अयशोयुगम् अपकीर्त्तिद्वयं, पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः । अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः । अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णत्वेन वर्णनं कविसमयसिद्ध तथाच मालिन्यं व्योम्नि पापे इत्यादि । उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम् । केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपणमिति व्यस्तरूपकम् ॥ १६ ॥

सुमेरु पर्वत को काट काट कर, नल ने न तो याचकों को दिया और न दानसङ्कल्प के लिए जल लेकर समुद्र को रेगिस्तान बनाया। इन दोनों को अपयश मान कर, उन्होंने अपने शिर के ऊपर माँग काढ़े हुए बालों की तरह समझा ॥ १६ ॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥१७॥

अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—**अजस्रमिति** । [**दिनेश्वरश्रीः**] दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य स इति ; अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः । **पटीयान्** = समर्थतरः । **अय देवो** = राजा, सूर्य्यश्च । 'देवः सूर्य्ये यमे राज्ञि'इति विश्वः । **अजस्रं**= सततम्, **अभ्यासं** = सान्निध्यम्, **उपेयुषा** = प्राप्तवता, सहचारिणा इति यावत् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च'इति निपातः । **कविना** = काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन, शुक्रेण च **बुधेन**=विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन **च** । **समं**=सह, **मुदैव**=आनन्देनैव, न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः । **समयं** = कालं, **नयन्** = अतिवाहयन्, **दिने दिने** = प्रतिदिनम्, **उदयम्** = अभ्युन्नतिम्, आविर्भावञ्च, **दधौ** = धारयामास । अत्र श्लेषालङ्कारः ॥ १७ ॥

दिवाकर की प्रभा की भाँति कान्तिशाली यह देव (१ राजा, २ सूर्य) कवि (१ पण्डित, २ शुक्र ग्रह) और बुध (१ विद्वान्, २ बुध ग्रह) के साथ निरन्तर

प्रसन्नतापूर्वक अपना समय व्यतीत करते हुए, प्रतिदिन उदय (१ उन्नति २ आविर्भाव) के समान प्रतीत होते थे ॥ १७ ॥

अधोविधानात् कमलप्रवालयोः शिरःसु धानादखिलक्ष्माभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥१८॥

अध इति । **कमलप्रवालयोः** = पद्मपल्लवयोः कर्मभूतयोः । **अधोविधानात्** =अधःकरणात्, न्यक्करणादिति यावत् । तथा, [**अखिलक्ष्माभुजां**] अखिलानां सर्वेषां, क्ष्माभुजां प्रतिकूलवर्त्तिनां राज्ञां । **शिरःसु, धानात्** = निधानात् । **इदम्= अस्य** = नलस्य **पदम्** , **ऊर्ध्वम्** = उत्कृष्टम् ऊर्ध्वस्थितञ्च, **पुरा भवति** = भविष्यतीत्यर्थः । 'यावत् पुरा निपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट् । **इति**= इत्थं मत्वा, इति शेषः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । **वेधसा** = विधात्रा कर्त्रा, **ऊर्ध्वरेखया, अङ्कितं** = चिह्नितं, **किम्** ? इत्युत्प्रेक्षा । ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानिति सामुद्रिकाः । सौन्दर्य्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः ॥१८॥

'ये भविष्य में ऊर्ध्व (सबके ऊपर, सर्वोच्च) रहेंगे–'क्या यही समझकर विधाता ने उनके चरण में ऊर्ध्वरेखा अङ्कित की; क्योंकि वह चरण—कमल और प्रवाल को—नीचा दिखाता (तिरस्कृत करता) था और अखिल राजाओं के शिर पर विराजमान रहता था ॥ १८ ॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥१९॥

अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति–जगदित्यादिभिः । **अयं** = नलः, **शैशवशेषवान्**=ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । [**जगज्जयं**] जगतां जयं, **तेन च**=जयेनेत्यर्थः । **कोषं** = धनजातम् , **अक्षयं प्रणीतवान्** = कृतवान् । **अथ** = अनन्तरं, **रतीशस्य**=कामस्य, **सखा, ऋतुः** = वसन्त इत्यर्थः । **वनं यथा, यौवनम् अस्य**=नलस्य, **वपुः** = शरीरं, **तथा, आलिङ्गत्** = संश्लिष्टवत् , संक्रान्तमित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

उन्होंने बाल्यावस्था को पार कर, जगद्विजय कर लिया और उस (विजय) से अपना अक्षय राजकोष भी पूर्ण कर लिया । फिर, यौवन ने उनके शरीर का इस तरह आलिङ्गन किया–जैसे रति-नाथ (कामदेव) का मित्र वसन्त वन को आलिङ्गन करता है ॥ १९ ॥

अधारि पद्मेषु तदंघ्रिणा घृणा क तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥२०॥

अधारीति। [तदंघ्रिणा] तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन, **पद्मेषु, घृणा**= अवज्ञा। 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति विश्वः। **अधारि**=धृता। **पल्लवे**=नवकिसलये, [**तच्छयच्छायलवः**] तस्य नलस्य, शयः पाणिः, 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः। तस्य छाया, तच्छयच्छायं 'विभाषा सेना' इत्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम्। तस्य लवो लेशोऽपि क=कुतः ? नैवं लेशोऽस्तीत्यर्थः। [**शारदः**] शरदि भवः शारदः, शरत्कालीन इत्यर्थः। 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्यः' इत्यण्प्रत्ययः। [**पार्विकशर्वरीश्वरः**] पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः। पार्वणेति पाठान्तरं। कालाट्ठञ्, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः, पूर्णचन्द्र इत्यर्थः। [**तदास्यदास्येऽपि**] तस्य नलस्य, यत् आस्यं मुखं, तस्य दास्ये कैङ्कर्येऽपि, **अधिकारितां**=योग्यतां, **न गतः**=न प्राप्तः। एतेनास्य पाणिपाद-वदनानामनौपम्यं व्यज्यते। अत्र, अंघ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २० ॥

नल के चरण ने कमलों पर घृणा (अवज्ञा) की। पल्लव में उस के हाथ की परछाहीं का कहीं लेशमात्र भी पाया जाता था ? शरत्कालीन पूर्णिमा का चन्द्र तो उन के मुख का दास बनने की भी योग्यता नहीं रखता था ॥ २० ॥

किमस्य रोम्णां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद्गुणान्।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ॥२१॥

किमिति। **विधिः**=विधाता, **अस्य**=नलस्य, **गुणान्, रोम्णां कपटेन**= व्याजेन, **कोटिभिः**=कोटिसंख्याभिः, **रेखाभिः, न अजीगणत्**=न गणितवान् **किम्** ? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः। तथा **जगत्कृता**=स्रष्ट्रा, विधिनेत्यर्थः। [**रोमकूपौघमिषात्**] रोम्णां कूपाः विवराणि, तेषाम् ओघः समूह एव, मिषं व्याजः तस्मात्। [**दूषणशून्यबिन्दवः**] दूषणानां दोषाणां, शून्यस्य अभावस्य, बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्त्तुलरेखाः, **न कृताः किम्** ?=अपि तु कृता एवेत्यर्थः। अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचिद् दोषा इति भावः। अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपट-मिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे, गुणगणनालेखत्व–दूषणशून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवो-त्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

क्या विधाता ने रोओं के बहाने, करोड़ों रेखाओं से, नल के गुणों की गणना तो नहीं की ? और क्या रोम-कूपों के बहाने जगत्स्रष्टा ब्रह्मा ने दोषाभाव को जतलाने वाली शून्य की बिन्दु तो नहीं लगा दी ? ॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीताऽर्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥२२॥

अमुष्येति । **अमुष्य**=नलस्य, **दोर्भ्यां**=भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् , **अरिदुर्गलुण्ठने** = शत्रुदुर्गभञ्जने, [**अर्गलदीर्घपीनता**] अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य । 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावो दीर्घपीनता, आयतपीवरत्वमित्यर्थः । किञ्चेति चार्थः । [**उरःश्रिया**] उरसः वक्षसः, श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या । **तत्र** = अरिदुर्गलुण्ठने [**गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता**] गोपुरेषु पुरद्वारेषु । 'पुरद्वारं तु गोपुरम्' इत्यमरः । स्फुरतां राजतां, कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च, तेषां भावस्तत्ता ; अप्रधृष्यत्वं तिर्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः । **गृहीता ध्रुवम्**=अवलम्बिता किम् ? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम् । तदुक्तं दर्पणे—'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति । दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः ॥ २२ ॥

नल के भुजदण्ड, शत्रुओं के किलों पर अधिकार करने में, क्या बेंवड़ों की लम्बाई और मोटाई नहीं ग्रहण की ? अरि-दुर्ग-लुण्ठनमें उनके वक्षःस्थल की शोभा ने क्या नगर-द्वार पर शोभायमान किवाड़ की कठिनता और विशालता नहीं ली ? ॥२२॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः ।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥२३॥

स्वकेलीति [**स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः**] स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं, तेन निन्दितः तिरस्कृतः, इन्दुश्चन्द्रः येन, तथोक्तस्य । स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमयूखस्येति भावः । [**निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः**] निजांशः स्वावयवः, या दृक् नेत्रं, तया तर्जिता निर्भर्त्सिता, पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं, येन तथाभूतस्य । **तन्मुखस्य** = नलमुखस्य [**अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे**] तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति यत्र तथाविधे, **चराचरे** = जगति । 'चराचरं स्याज्जगत्' इति विश्वः । **प्रतिमा** = उपमानं, **न**, आसीदिति शेषः । अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्य-

प्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे–'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

उनका मुख—अपनी क्रीडा के लेशमात्र 'मन्द मुस्कराहट' से—चन्द्रमा को मात करता था; और अपने अवयव के एक भाग 'नेत्र' से कमलों की शोभा का तिरस्कार करता था । उन दोनों को जीतने की योग्यता किसी में नहीं थी (अर्थात् उनसे बढ़कर कुछ सुन्दर है ही नहीं) अतः जगत् में उनके मुख की उपमा कहाँ॥२३

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥२४॥

उक्तार्थं भङ्गयन्तरेणाह–सरोरुहमिति । **तस्य** = नलस्य, **दृशैव** = नयनेनैव, **सरोरुहं** = पद्मं **तर्जितं** = न्यक्कृतम् । **स्मितेनैव** = मन्दहासेनैव **विधोः** = चन्द्रस्य, **श्रियः** = कान्तयः, **अपि जिताः**=तिरस्कृताः । **परम्**=अन्यत् आभ्यामिति शेषः । **भव्यं** = रम्यं वस्तु **कुतः** ? = न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः । **अहो** = आश्चर्य्यं, [**तदाननस्योपमितौ**] तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने । **महीयसी**= अतिमहती, **दरिद्रता** = अभावः, अत्यन्ताभाव इत्यर्थः । सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम् । अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

उनकी दृष्टि ने कमलों को जीत लिया और मन्द मुस्कराहट ने चन्द्रमा की कान्ति को जीत लिया । कमल और चन्द्रमा से बढ़कर कौन सी दूसरी वस्तु सुन्दर है ? उसके मुख की उपमा दिखाने में बड़ी दरिद्रता है । यही आश्चर्य की बात है ॥

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैः स्वयं चमर्येव तुलाभिलाषिणः ।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥२५॥

स्वबालेति । **चमरी** = मृगीविशेषः, [**तदुत्तमाङ्गजैः**] तस्य नलस्य, उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः, समं सहैव । **तुलाभिलाषिणः**=सादृश्यकाङ्क्षिणः । **स्वबालभारस्य** = निजरोमनिचयस्य, **अनागसे** = अनपराधाय । नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः । क्वचित्तदभावे नञ्समासो इष्यते । **पुनः पुनः** [**पुच्छविलोलनच्छलात्**] पुच्छस्य लाङ्गूलस्य, विलोलनं विचालनम्, एव छलं तस्मात् । **बालचापलं** = [illegible] अथच शिशुचापल्यं । **शंसति** = कथयति । बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः । अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेवेन अन्यस्य बाल-

चापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः' इति ॥ २५ ॥

चमरी मृगी बार-बार अपनी पूँछ हिलाने के बहाने मानों यह जतलाती है कि उसके बाल नल के बालों के साथ जो समता चाहते हैं, उसका कारण उनका बाल-चापल्य है, इस सादृश्य में उनका कोई अपराध नहीं है ॥२५॥

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥२६॥

महीभृत इति । **तस्य महीभृतः** = नलस्य, [**मन्मथश्रिया**] मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया, **च निजस्य चित्तस्य तं** = नलं, **प्रति इच्छया** = रागेण च । **तत्र, नृपे** = नले **जगत्त्रयीभुवां** = त्रिभुवनवर्त्तिनीनां **नतभ्रुवां** = कामिनीनां, **द्विधा** = द्विप्रकारेण, **मन्मथविभ्रमः** । अयं मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च, **अभवत्** । अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

राजा नल में कामदेव का भ्रम होने से और अपने चित्त में नल के प्रति अत्यन्त आसक्ति होने से, तीनों लोकों की कामिनियों को उनके प्रति दोहरा कामजन्य विभ्रम होता था ॥ २६ ॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनाऽपि लोचनैः ॥२७॥

निमीलनेति । **त्रिदशीभिः** = सुराङ्गनाभिः, **निमीलनभ्रंशजुषा** = निमेषनिवृत्तिभाजा, निर्निमेषयेत्यर्थः । **दृशा** = नयनेन, **तं** = नलं, **भृशम्** = अतिमात्रं, **निपीय** = सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः । **यः** अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः **अर्जितः** कृतः, **अमूः** =त्रिदिश्यः देव्यः, **अधुनापि निमेषनिःस्वैः** = निमेषशून्यैः, **लोचनैः**, **तम् अभ्यासभरं विवृण्वते** = प्रकटयन्ति । तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनाय तद्धेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २७ ॥

देवाङ्गनाओं ने एकटक नजर से उनका पान कर के जो भारी अभ्यास कर लिया था, उसे ही वे निमेषशून्य नयनोंसे मानों आज भी प्रकट कर रही हैं ॥२७॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

अद इति । **चक्षुःश्रवसां** = नागानां, **प्रियाः**, पन्नग्य इत्यर्थः । **अदः** = इदं,

नः = अस्माकं, **दृशोः** = चक्षुषो द्वयं । तं नलम् आकर्णयतीति **तदाकर्णि** = तद्गुणश्रावीत्यर्थः । तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः । अत एव **फलाढ्यजीवितं** = सफलजीवितम् । न वीक्षते इत्यवीक्षि । अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः । [**तदवीक्षि**] तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि, तददर्शीत्यर्थः । अत एव **अफलञ्च इति** = हेतोः, **तदा** = तस्मिन् काले, **आत्मनः** = स्वान्, **हृदा** = मनसा, **नले** = नलविषये, **स्तुवन्ति** = प्रशंसन्ति स्म, **निन्दन्ति** = कुत्सयन्ति च । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥२८॥

चक्षुःश्रवा (नागों) की पत्नियाँ—'ये हमारी दोनों आँखें नल के गुणों को सुनती हैं, इस से उनका जीवन सफल है; किन्तु (आँख का प्रधान गुण देखना है तो पातालनिवासिनी होने के कारण) नल के दर्शन न होने से वे निष्फल हैं'—इस लिए वे उस समय नल के सम्बन्ध में अपने चित्त से (चक्षु की) क्रमशः स्तुति और निन्दा किया करती थीं ॥ २८ ॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावना-बलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि ।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥२९॥

विलोकयन्तीभिरिति । **अजस्रभावनाबलात्** = निरन्तरध्यानप्रभावात्, **अमुं** = नलं, तत्र भावनायामिति भावः । **नेत्रनिमीलनेष्वपि** = निमेषावस्थास्वपि, **विलोकयन्तीभिः** = उन्मेषावस्थायामिव साक्षात्कुर्वतीभिः, **मर्त्याभिः** = मानवीभिः, **अमुष्य** = नलस्य, **दर्शने**, **निमेषनिर्मितः** = नेत्रनिमीलनजनितः, **विघ्नलेशोऽपि** = अन्तरायलवोऽपि, **न अलम्भि** = न प्राप्तः । 'विभाषा चिण्णमुलौ' इति नुमागमः । मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्या अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

नरलोक की नारियों को निरन्तर चिन्तन के प्रभाव से, निमेषावस्था में भी उनका दर्शन करती रहने पर, नल के दर्शन के सम्बन्ध में नेत्रनिमीलनजन्य क्लेश ज़रासा भी नहीं होता था ॥ २९ ॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ॥३०॥

नेति । **का** = नारी, **निशि** = रात्रौ, **तं**=नलं, **स्वप्नगतं न ददर्श** ?=सर्वदैव ददर्शेत्यर्थः । **का, च, गोत्रस्खलिते** = नामस्खलने **तं न जगाद** = स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती । अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः । **का च**

रते = सुरतव्यापारे, [तदात्मताध्यातधवा] तदात्मतया नलात्मतया, ध्यातः चिन्तितः, धवः भर्त्ता, यया तथाभूता । 'धवः प्रियः पतिर्भर्ता'इत्यमरः । [स्वमनोभवोद्भवं] स्वस्य आत्मनः, मनोभवः कामः, तस्य उद्भवः तं, वा न चकार ? = अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः । कामान्धाः किं न कुर्वन्तीति भावः । अत्रापि-दर्शनाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

किस नारी ने रात्रि को स्वप्न में उन का साक्षात्कार न किया हो ? किस स्त्री ने (अपने पति को पुकारने के स्थान पर) नल का नाम लेकर पति को पुकारा न हो ? किस महिला ने सम्भोग के समय नल के स्वरूप में अपने पति का चिन्तन कर, कामविकार को जाग्रत न किया हो ? ॥ ३० ॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ॥३१॥

श्रियेति । **तं** = नलम्, **आलोक्य** = दृष्ट्वा, **श्रिया** = सौन्दर्येण, **अहमस्य** = नलस्य, **योग्या**=अनुरूपा, **इति**=धियेति शेषः । **स्वम्**=आत्मानं, स्वावयवमित्यर्थः । **ईक्षितुं** = परीक्षितुं **करे**, **धृतः** = गृहीतः, **दर्पणः** **भैमीं** = वैदर्भीं, दमयन्तीमित्यर्थः । **विहाय** = विनेत्यर्थः, **कया** **सुरूपया** = शोभनरूपवती, अहमित्यभिमानवत्या नार्य्या, **अपदर्पया**=दर्पशून्यया सत्या [**श्वासमलीमसः**] श्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमसः मलदूषितः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः । **न कृतः** ? = अपि तु सर्वयापि कृत एवेत्यर्थः । सौन्दर्य्यगर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यस्तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३१ ॥

दमयन्ती को छोड़कर, किस दर्पहीन सुन्दरी ने, नल की प्रतिकृति को देखकर, 'क्या मैं सुन्दरता में नल के योग्य हूँ' इसे जानने के लिए अपने स्वरूप देखने को दर्पण हाथ में लाकर, उस (दर्पण) को अपनी आहों से मलिन न किया हो ? ॥३१॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥३२॥

एवमस्यालौकिकसौन्दर्य्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति—**यथेति** । **मदनः** = कामः, प्रद्युम्न इति यावत् । **भोग**-

भोजिना = सर्पशरीराशिना, **वयसा** = पक्षिणा, गरुडेनेत्यर्थः। **उह्यमानः** = नीयमानः। वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम्। **अनलावरुद्धम्** = अग्निपरिवेष्टितं **वैरोचनिजस्य** विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः, तज्जस्य तत्पुत्रस्य, बाणासुरस्येत्यर्थः। **पत्तनं** – नगरं, शोणितपुरमिति यावत्। प्रसह्य = सहसा, **यथा वेशितः खलु** = प्रवेशित एव। 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रगतं हरिः। बलप्रद्युम्नसहितो बाणस्य प्रययौ पुरीम्। इत्युषाहरणे विष्णुपुराणात्। **तथा, नलावरुद्धं** = नलासक्तं, **विदर्भजायाः** = दमयन्त्याः, **मनः**, **भोगभोजिना** = सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फण-काययोः' इत्यमरः। **वयसा** = यौवनेन, 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। **ऊह्यमानः** = परैस्तर्क्यमाणः। ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक्। **वेशितः** = प्रवेशितः। अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः। तदनुप्राणिता उपमा च। सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः॥ ३२॥

जिस प्रकार मदन (कामदेवावतार प्रद्युम्न) ने भोग (सर्प)–भक्षी वयस (पक्षी, गरुड) पर बैठकर, अनल से घिरी हुई बाणासुर नगरी (शोणितपुर) में सहसा प्रवेश किया था उसी प्रकार मदन (कामदेव) ने सुखोपभोग के योग्य वय (यौवन) पर आरूढ होकर, नल से आक्रान्त विदर्भराजकुमारी दमयन्ती के अन्तःकरण में हठात् प्रवेश किया॥ ३२॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः॥३३॥

इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागस्थाप्युलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयामवस्थामाह—**नृप** इत्यादि। **सा** = **भीमनरेन्द्रनन्दना** = दमयन्ती। नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। **निजरूपसम्पदां** = स्वलावण्यसम्पत्तीनाम**नुरूपे**, **बहुशः** = बहुभ्य इत्यर्थः। बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामित्यपादनार्थे' शस्प्रत्ययः। **श्रुतिं** = श्रवणं, **गते**। एतेन श्रवणानुराग उक्तः। **तस्मिन् नृपे** = नले, [**मनोभवाज्ञैकवशंवद**] मनोभवाज्ञाया एकं वशंवदम्। एकस्यैव विधेये शिवभागवतवत् समासः। 'प्रियवशे वदः खच्' 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना तस्य मुम्। **मनो**, **विशिष्य दिदेश** = अस्मैवेति निश्चित्यातिससर्जेत्यर्थः। तद्गुणश्रवणात् तदासक्तऽऽचित्तासीदित्यर्थः॥३३॥

दमयन्ती ने अपनी लावण्य-श्री के योग्य तथा बहुत बार सुने हुए नल में, कामदेव के आज्ञाकारी मन को विशेषतया लगाया ॥ ३३ ॥

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने साऽवसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति—**उपासनामित्यादि** । सा = भैमी, **दिने दिने** = प्रतिदिनं 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विर्भावः। **वन्दिनां** = स्तुतिपाठकानाम् **अवसरेषु** पितुः **उपासनां**=सेवाम् **एत्य** = प्राप्य, **तेषु** = वन्दिषु, **भूपतीन् प्रति** = भूपतीनुद्दिश्य, **पठत्सु**, सत्स्विति शेषः । **नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म** = अनुरक्ताभूदित्यर्थः । दक्षेदैवादिकाल्लट् । अत एव **विनिद्ररोमा** = रोमाञ्चिता, **अजनि** इति सात्त्विकोक्तिः । जनेः कर्त्तरि लुङ् । 'दीपजन' इत्यादिना च्लेश्चिणादेशः । नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्या रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः ॥

राजकुमारी प्रतिदिन विरुदावली के समय पिता की शुश्रूषा के लिए आकर, वन्दियों द्वारा कथित राजाओं का विरद बखान सुनते-सुनते, नल के सम्बन्ध में प्रशंसा सुनकर, इतना अनुरक्त हो जाती थी—उसके शरीर पर पुलकावली छा जाती थी ॥३४॥

कथानुषङ्गेषु मिथः सखीमुखात् तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥३५॥

कथेति । **मिथः** = अन्योन्यं, रहसि वा । **कथानुषङ्गेषु** = विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु, **सखीमुखात्**, **नलनामनि** = नलाख्ये, **तृणे** । "नलः पोटगले राज्ञि"इति विश्वः । **श्रुते** सति **अनया**, **तन्व्या** = दमयन्त्या, **द्रुतमन्यत्** = कार्यान्तरं, **विधूय** = निराकृत्य, **मुदा** = हर्षेण, [**तदाकर्णनसज्जया**] तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने, सज्जकर्णया दत्तकर्णया, **अभूयत** = अभावि। भुवो भावे लङ् । अर्थान्तरे प्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्णकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः ॥ ३५ ॥

वह तन्वङ्गी एकान्त में सखियों के साथ बातचीत में सखी की मुँहजबानी नल नामक तृण के बारे में भी यदि सुन लेती थी, तो झट दूसरे कामों को छोड़ कर, हर्ष के साथ नल का हाल सुनने के लिए, अपना कान लगा देती थी ॥ ३५ ॥

स्मरात् परासोरनिमेषलोचनाद्बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।

जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

स्मरादिति। परासोः=मृतात्, अत एव **अनिमेषलोचनात्** = निश्चलाक्षा-द्देवादिति च गम्यते उभयथापि भयहेतूक्तिः। **स्मराद्बिभेमि**। **तद्भिन्नं** = ततोऽन्य-मुदाहर तत्सदृशं निदर्शय, इत्येवं **सा**=दमयन्ती, **यूनः स्तुवता जनेन** = प्रयोगकर्त्रा **तदास्पदे** = स्मरस्थाने, **निदर्शनं** = दृष्टान्तं **नैषधं** = निषधानां राजानं नलं। 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्।' **अभ्यषेचयत्**। स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः। स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृते सहर्षं शृणोतीति रागाति-रेकोक्तिः। 'उपसर्गात् सुनोति'इत्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम्॥ ३६॥

जब सखियाँ कामदेव की उपमा देकर युवकों की प्रशंसा करती थीं तो दमयन्ती कहती थी कि मैं विगत-प्राण तथा निश्चल नयनवाले मदन से डरती हूँ, इसलिए किसी अन्य का दृष्टान्त उपस्थित करो—ऐसा कहकर वह उस (कामदेव) के स्थान पर, मानो नलका वर्णन करने के लिए ध्यान आकर्षित करती थी॥३६॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया॥३७॥

नलस्येति। [**निषधगता**] निषधेभ्य आगताः, [**दूत-द्विज-बन्दि-चारणाः**] दूताः सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः स्तावकाः चारणा देशभ्रमण-जीविनः। ते सर्वे, **मिषेण** = केनचिद् व्याजेन, **नलस्य, गुणान् पृष्टाः**। पृच्छ-तेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः। **अथ** = प्रश्नानन्तरम्, **अनया** = भैम्या, **तत्कीर्त्तिकथां** = नलस्य यशःकथामृतं, **निपीय** = नितरां श्रुत्वेत्यर्थः। **चिराय, विमनायमानया** = विमनीभवन्त्या। 'भृशादित्वात् क्यङि सलोपश्च। 'अकृत्सार्व-धातुकयोः'इतिदीर्घः। ततो लटः शानजादेशः। तदा **तस्थे** = स्थितम्। तिष्ठतेर्भावे लिट्। अयञ्च दूतादिव्यवधानेन गुणकीर्त्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभवः॥३७॥

निषध देश से आने वाले दूतों, ब्राह्मणों, भाटों और स्तुतिपाठकों से किसी बहाने से नल के गुणों के बारे में पूछती और उनकी कीर्तिकथा का पानकर, बहुत देर तक अन्यमनस्का बनी रहती॥३७॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥३८॥

प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः। अत्र तत्कथनमुखेन दर्शना-नुरागं चास्या दर्शयन्, प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह—**प्रियमि**ति। **सा** = भैमी,

[**त्रिजगज्जयिश्रियौ**] त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत् । समाहारो द्विगुरेकवचनम् । तस्य जयिनी लोकत्रयजित्वरी, श्रीः शोभा, ययोस्तादृशौ । कावपि 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः । **प्रियं प्रियाश्च** तौ, कामिनावित्यर्थः । **अधिलीलागृहभित्ति** = विलासवेश्मकुड्ये । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । **लिख** इत्युक्तौ **कारुवरेण** = शिल्पिविशेषेण प्रयोज्येन **लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं** = रूपसाम्यम् । **ईक्षते स्म** लिखितादिव्यवधानेन गुणकीर्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभावः ।

हे चित्रकार ! जिस प्रेमी और प्रेमिका ने तीनों लोकों के सौन्दर्य को जीत लिया हो उसका चित्र क्रीडाभवन की दीवाल पर बनाओ—ऐसा कहकर, वह चित्रकार से लिखे गये चित्र में अपने और नल के स्वरूप की समता देखती थी ॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क सा न स्वपती स्म पश्यति ।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥३९॥

द्विविधं दर्शनम्, साक्षाच्चित्रादौ च । तत्र साक्षादलाभाच्चित्रदर्शनमुक्तम् । अथ द्वाभ्यां स्वप्नदर्शनमाह—**मनोरथेनेति** । **मनोरथेन** = सङ्कल्पेन, **स्वपतीकृतं** = स्वभर्तृकृतं । 'अभूततद्भावे च्विः' 'च्वौ' इति दीर्घः । **नलम्** . **स्वपती** = निद्रावती सती **सा** = दमयन्ती, **क निशि** = कुत्र रात्रौ, **न पश्यति स्म** = सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती । तथा हि—**सुप्तिः** = स्वप्नः, **अदृष्टम्** = अत्यन्ताननुभूतम्, **अप्यर्थं** । किमुत दृष्टमिति भावः । **अदृष्टवैभवात्** = प्राक्तनभाग्यबलात् । **जनदर्शनातिथिं**= लोकदृष्टिगोचरं, **करोति** । तद्वदत्रापि निमित्तादद्दृष्टात् तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥३८॥

ऐसी कोई रात नहीं जाती थी जिसमें दमयन्ती अपने मनमें वरण किए हुए पति—नल—को स्वप्न में न देखती रही हो । भाग्यवशात् अदृष्टवस्तु को भी स्वप्न, दृष्टिगोचर कर देता है ॥३९॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ॥४०॥

निमीलिताक्षिति । **निद्रया** प्रयोजिकया, **निमीलितात्** = मुकुलिताद्, उपरतव्यापारादित्यर्थः । **अक्षियुगाच्च** । तथा [**बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्**] बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां, मौनेन व्यापाररहित्येन, मुद्रितात् प्रतिष्ठब्धात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति । **हृदः** = हृदयाद् **अपि संगोप्य** = गोपयित्वेत्यर्थः ।

"अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति" इत्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम्। अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते; स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव। तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह—**कदाप्यवीक्षित** इति। अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः। **महद्रहस्यम्** = अतिगोप्यं वस्तु, **स महीपतिः** = नलः, **अस्याः**=भैम्याः, **अदर्शि**=दर्शयाञ्चक्रे। दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। यथा काचिच्चेटी कस्यैचित् कामिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति, तद्वदिति ध्वनिः ॥४०॥

निद्रा (रूपी सखी) ने—उसके बन्द हुए दोनों नयनों के द्वारा, और बाह्येन्द्रिय विषय ग्रहण न करने के कारण शून्य हुए मन से भी छिपाकर, कभी न देखे हुए महाराज नल को, अति गोपनीय वस्तु की तरह (गुप्तरीति से) दमयन्ती को दिखा दिया ॥४०॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यति प्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥४१॥

अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—**अहो** इति। **हिमागमे**=हेमन्तेऽपि, **स्मरार्दितां** = कामपीडितां, **तां** = दमयन्तीं **प्रति**, **अहोभिः** = दिवसैः, **अतिमहिमा** = अतिवृद्धिः, **प्रपेदे**। तदा **तपर्त्तुपूर्त्तावपि** = ग्रीष्मान्तेऽपि, **विभावरीभिः** = निशाभिः, **मेदसां भरा** = मांसलताऽतिशयः, स्थूलत्वमिति यावत्। **बिभराम्बभूविरे** = बभ्रिरे। भृञः कर्मणि लिट्। आम्प्रत्ययः। **अहो** = आश्चर्यं, शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः। विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः। एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते। अहोशब्दस्य 'ओत्' इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः ॥४१॥

बड़े आश्चर्य की बात है कि कामविह्वला दमयन्ती के लिए हेमन्त ऋतु के छोटे दिन बहुत बड़े हो गये और ग्रीष्मऋतु की छोटी रात बहुत बड़ी हो गयी॥४१॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद्गुणोत्करम्॥४२॥

अथ नलस्यापि, श्रवणानुरागमाह—**स्वेत्यादि**। **नलोऽपि**। **कदाचित्** [**स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः**] स्वस्य कान्त्या सौन्दर्य्येण, याः कीर्त्तयः तासां व्रजः पुञ्ज एव, मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः, तस्याः। **अन्तः**=अभ्यन्तरे, **घटनागुणश्रियं**= गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं, **श्रयन्तं** = भजन्तं, **युवधैर्यलोपिनं**=तरुणचित्तस्थैर्यपरिहारिणम्, **अस्याः** = दमयन्त्याः, **गुणोत्करं** = सौन्दर्यसन्दोहं, **लोकाद्** = आगन्तुकजनात्,

अशृणोत् = श्रुतवान्। अत्र कीर्तिश्रेणीगुणानां मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥४२॥

एक समय आया जब अपने सौन्दर्य-यश रूपी मोती-माला को अपने गुणरूपी डोरे से पोहने वाली और युवकों के चित्त को चञ्चल बनाने वाली दमयन्ती के सुषमा-सन्दोह के बारे में लोगों की मुँहजबानी नल ने भी सुना ॥४२॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥४३॥

अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति--**तमेवेति** । **ततः** = गुणश्रवणानन्तरं, [**शरीरशोभाजयजातमत्सरः**] शरीरशोभाया देहसौन्दर्य्यस्य, जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः, **स्मरस्तमेव, अवसरम्** = अवकाशं, **लब्ध्वा** = प्राप्य, **मूर्त्तया**=मूर्त्तिमत्या, **निजया अमोघशक्त्येव** = अकुण्ठितसामर्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा। **तया**=दमयन्त्या, **नैषधं**=नलं **विनिर्जेतुम्**, **इयेष** = इच्छति स्म। रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः। एतेन रागोद्गम उक्तः ॥४३॥

तब अपने शरीर के सौन्दर्य जीत लिये जाने से, ईर्ष्या के कारण कामदेव ने अच्छा अवसर पाकर, अपनी मूर्तिमती अमोघ शक्ति के समान उस दमयन्ती के द्वारा ही, नल पर विजय पाने की अभिलाषा की ॥४३॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रयः।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥४४॥

अकारीति । **तेन क्षमाभुजा** = नलेन, [**भीमनृपात्मजाश्रयः**] भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः, श्रियः **गुणः** = तदीयः सौन्दर्यादिः, **श्रवणातिथिः** = श्रोत्रविषयः, **अकारि**=कृतः; श्रुत इत्यर्थः। करोतेः कर्मणि लुङ्। स [**तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा**] तस्य नलस्य उच्चधैर्यव्ययाय उन्नतधैर्यनाशाय, संहितेषुणा **स्मरेण च** [**स्वात्मशरासनाश्रयः**] स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो **गुणः** = मौर्वी, **श्रवणातिथिरकारि** = आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः। दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः। अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥

इधर उन महाराज नल ने भी भीमराजकुमारी दमयन्ती के (सौन्दर्यादि) गुणों को अपने कानों का अतिथि बनाया; उधर कामदेव ने भी नल के अलौकिक धैर्य

को नष्ट करने के लिए, धनुष पर बाण चढ़ाकर, धनुष की डोरी को अपने कानों का अतिथि बनाया ॥४४॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी शरासनज्यां विशिखैः सनाथयन्।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥४५॥

अमुष्येति। स **स्मरः साहसी** = साहसकरः। 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति' इति, न्यायावलम्बी सन्नित्यर्थः। **अमुष्य धीरस्य** = अविचलितस्य नलस्य, **जयाय, शरासनज्यां** = निजधनुर्मौर्वीं, **विशिखैः** = शरैः, **सनाथयन्** = सनाथं कुर्वन्; संयोजयन्नित्यर्थः। [**त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि**] त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी। 'तद्धितार्थ' इत्यादिना समासः। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यते' इति स्त्रीलिङ्गत्वाद्द्विगोरिति ङीप्। तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि। **यशांसि, संशये, निमज्जयामास।** किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपिशब्दार्थः। वृद्ध्यपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थः। अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥४५॥

साहसी कामदेव ने उन धैर्यशाली नल पर विजय पाने के लिए, अपने धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण रख कर, तीनों लोकों की विजय से प्राप्त हुई समूची कीर्ति को सन्देह में डाल दिया अर्थात् अपनी कीर्ति की बाजी लगा दी ॥४५॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत्।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥४६॥

दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह--**अनेनेति। अनेन** = नलेन सह, **भैमीं, घटयिष्यतः** = योजयिष्यतः, **विधेः** = विधातुः, **अबन्ध्येच्छतया** = अमोघसङ्कल्पत्वेन **तत्** = तस्मात्, **तथा** = तेन प्रकारेण; योऽग्रे वक्ष्यत इति भावः! **व्यलासि** = विलसितं; लसतेर्भावे लुङ्। **यत्** = यस्मात्, **तत्**=प्रसिद्धं, **तादृक्**= तथा, अभेद्यमित्यर्थः। **अस्य** = नलस्य [**धैर्यकञ्चुकम्**] धैर्यमेव कञ्चुकं, **पौष्पैः**= पुष्पमयैरपि, न तु कठिनैः, **अनङ्गस्य**=अशरीरस्य, न तु देहवतः, **मार्गणैः** = बाणैः, **अभेदि**=भिन्नम्। भिदेः कर्मणि लुङ्। दमयन्ती-नलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गबाणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरबन्ध्येच्छत्वं विज्ञायत इत्यर्थः; दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः। तत्रानङ्गपौष्पयोः कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः; तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः। स च धैर्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥४६॥

'इन नल के साथ दमयन्ती का सङ्गम होगा'—यह विधाता के दृढ़ सङ्कल्प का विलास था कि नल के धैर्यरूपी (दुर्भेद्य) कवच को,—फूलों के बने हुए बाणों से—अशरीरधारी कामदेव ने—छलनी कर दिया ॥४६॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥४७॥

अथ विधिमपि जितवतः किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—**किमिति** । **किमन्यत्** = अन्यत् किमुच्यते ? **पितामहः** = विधिः **अपि** [**यदस्त्रतापितः**] यस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः, **अद्यापि वारिजमाश्रयति**, तस्य पद्मासनत्वादिति भावः । शिशिरोपचारश्च गम्यते । **अहो** ! = विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम् । **तं** = पितामहतापिनं **स्मरं** = कामं **स नलः आत्मनः**, [**तनुच्छायतया**] तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता, तया तनुच्छायतया । तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छायम् । तत्तयेति च गम्यते । 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इति वैजयन्ती । **लङ्घितुं न शशाक** इत्यहं **शङ्के**, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः । अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्थापत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः । "एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यथा भवेत् । कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया" इति लक्षणात् । तनोश्छायेव च्छायेत्युपमा, छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः । एतत्त्रितयोपजीवनेनालङ्घ्यत्वे तनुच्छायतायाः हेतुत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा; सा च शङ्क इति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ ४७ ॥

इससे बढ़ कर और क्या होगा कि स्वयं ब्रह्मा जी कामदेव के बाणों से घायल होकर, अपना संताप मिटाने के लिए, आज तक कमल पर पड़े हुए हैं। ऐसे कामदेव का लंघन करने में नल समर्थ न हो सके—यह बड़े आश्चर्य की बात हुई। मेरा अनुमान है कि (सौन्दर्य का अवतार) कामदेव नल के शरीर की परछाहीं भर था और कोई भी व्यक्ति अपनी परछाहीं का लंघन नहीं कर सकता ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयःकृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥४८॥

उरोभुवेति । **सा तन्वी** = भैमी, [**त्रपासरिद्दुर्गं**] त्रपैव सरित्, सैव दुर्गं नलसम्बन्धि, तदपि **प्रतीर्य नलस्य हृदयं विवेश** इति **यत्** । तत्प्रवेशनं, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । **वयःकृतेन नवोपहारेण** = नूतननिर्माणेन, **उरोभुवा**

तज्जन्येन **कुम्भयुगेन** = कुचयुगलाख्येनेति भावः। अत एव विषयनिगरणेन अभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः।'न लोका'इत्यादिना कृद्योगे,षष्ठीप्रतिषेधात् कर्त्तरि तृतीया। 'नपुंसके भावेऽप्युपसंख्यानम्'इतिषष्ठी तु शेषविवक्षायाम्। **जृम्भितं** = जृम्भणं **किम्** उत्प्रेक्षा ; सा चोक्तातिशयोक्तिमूलेति सङ्करः। दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूदित्यर्थः। तेन मनःसङ्गः उक्तः ॥ ४८ ॥

उस तन्वङ्गी ने यौवन द्वारा दो कुच-कलशों का नवीन उपहार पाकर, उन्हीं (तुम्बीरूपी) उरोजों की सहायता से लज्जारूपी दुर्गम नदी को पार कर, नल के हृदय में प्रवेश किया ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या शशाङ्ककोमला ॥४९॥

अथास्य जागरावस्थामाह—**अपह्नुवानस्येति**। **निजामधीरतां** = चपलत्वं, **जनायापह्नुवानस्य** = अपलपतः। 'श्लाघह्नुङ्स्था' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। **अस्य** = नलस्य **मनोभुवा** = कामेन **यत्** = जागरप्रलापादिकं **कृतं**, **तत्** सर्वं [**जागरदुःखसाक्षिणी**] जागरदुःखस्य साक्षिणी साक्षाद्द्रष्ट्री। 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्'इति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप्। [**शशाङ्ककोमला**] शशाङ्केन कोमला रम्या, **निशा** = यामिनी, **चाबोधि** = बुद्धम्। 'दीपजन'इत्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेशः। तथा शशाङ्कवत् कोमला मृदुला **शय्या** = चाबोधि। निशायां शय्यायां जागरणात्तयोस्तत्साक्षित्वमिति भाव ॥ ४९ ॥

लोगों से अपनी विकलता छिपानेवाले नल के साथ कामदेव ने जो कुछ किया उसे—चन्द्र के कारण रमणीक रात्रि तथा चन्द्रमा के समान कोमलशय्या ने ही जाना ; क्योंकि ये दो उनकी जागरण-व्यथा की साक्षिणी थीं ॥४९॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥५०॥

ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यतां भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह—**स्मरे**-त्यादि। **भृशं** = गाढं, **स्मरोपतप्तः** = कामसन्तप्तोऽपि **प्रभुः** = समर्थः **स** = नलः, **विदर्भराजं** = भीमनृपतिं, **तनयां** = दमयन्तीं, **न अयाचत** = न याचितवान्। 'दुहियाच्'इत्यादिना याच्चेर्द्विकर्मकता। तथाहि **मानिनः** = मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः, **असून्** = प्राणान्, **शर्म च** = सुखञ्च **त्यजन्ति**। एतत्त्यागोऽपि **वरं**=मनाक् प्रियम्

तु=किन्तु, **एकम्**=अद्वितीयम्, **अयाचितव्रतम्**=अयाच्ञानियमं तु न त्यजन्ति। मानिनां प्राणत्यागदुःखाद्दुःसहं याच्ञाया दुःखमिति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५० ॥

अत्यन्त काम-सन्तप्त होने पर भी सहनशील नल ने विदर्भ-नरेश से उनकी पुत्री दमयन्ती को नहीं माँगा ; क्योंकि मनस्वी पुरुष प्राण तथा सुख—इन दो को भले छोड़ दें, पर एक 'याञ्चा न करने' का व्रत नहीं छोड़ते ॥ ५० ॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥५१॥

मृषेति । **अयं**=नलो **वियोगजां**=दमयन्तीवियोगजन्यां, **निःश्वासततिं**=निःश्वासपरम्परां, **क्वचित्**=कुत्रचिद्वस्त्वन्तरे विषये [**मृषाविषादाभिनयात्**] मिथ्याभूतदुःखस्याभिनयात् छलेन **जुगोप**=संववार । प्रियाविरहसन्तापसम्भूतं दीर्घनिःश्वासम्, आरोपितमनःपीडाव्यक्तीकरणादाच्छादयामासेत्यर्थः । तथा **पाण्डुतां**=विशदतां शरीरपाण्डिमानं च, सन्ततकान्ताचिन्तासमुत्पन्नं वर्ष्मश्वैत्यं **विलेपनस्य** [**अधिकचन्द्रभागताविभावनाच्च**] चन्दनादधिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने । 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता यस्या विभावनादारोपणात् **अपललाप**=निह्नुते स्म ; शरीरवैवर्ण्यं द्रष्टृनपि चन्दने घनसाराधिक्यव्याजेन प्रतारयामासेत्यर्थः । अत्रापह्नवप्रभेदः ॥५१॥

किसी वस्तु के बारे में खेद का बहाना कर के, नल ने दमयन्ती विरहजन्य आहों की परम्परा छिपायी; और शरीर पीला होने का कारण यह कह कर छिपाया कि लेप किए जानेवाले चन्दन में कपूर की मात्रा अधिक हो गयी थी ॥५१॥

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनास्वपि ॥५२॥

शशाकेति । **अयं**=नलोऽलीकवीक्षितां=भ्रान्तिदृष्टां **प्रियां**=दमयन्तीं **समाजे**=सभायाम् **एव यत् बभाषे**=बभाण । [**वैणिकैः**] वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः=वीणावादैः । 'शिल्पम्' इति ठञ् । **आलपितासु**=सूच्चरितासु, व्यक्तिं गतास्वित्यर्थः । 'रागव्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात् [**पञ्चममूर्च्छनासु**] पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य, मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु । 'क्रमात् स्वराणां सप्तानाम् आरोहश्चावरोहणम् मूर्च्छनेत्युच्यते' इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहणं तस्य

कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम् । **मुमूर्च्छ** इत्यपि यत्तदु-भयम् । **अनेन** प्रकारेण **निह्नोतुम्** = आच्छादयितुं **शशाक** । 'अये' इति पाठे, विषादे इत्यर्थः । "अये क्रोधे विषादे च"इति विश्वः । एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छा-वस्थाः सूचिताः ॥५२॥

नल ने भ्रान्ति के कारण देखी गयी प्रियतमा दमयन्ती से राजदरबार में जो कहा उसे इस प्रकार छिपाने में समर्थ हुआ:—वीणा बजानेवालों द्वारा पञ्चम स्वर राग-रागिनी के साथ गाये गये आलाप से मुग्ध दरबारी न सुन सके ॥५२॥

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥५३॥

अवापेति । **जितेन्द्रियाणां धुरि** = अग्रे **कीर्तितस्थितिः** = ख्यातप्रतिष्ठः **स भूपतिः** = नलः **तत्र** = समाजे । न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् । **असंवरे** = संवरणरहिते, संवरितुमशक्ये । 'ग्रहिवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यप्प्रत्ययः । 'संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि ।' **शम्बरवैरिविक्रमे** = मनसिजविकारे **क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि** = प्रकाशतां गते सति, **सापत्रपतां** = सलज्जताम् **अवाप** । धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः ॥५३॥

जितेन्द्रिय-प्रवर लब्धप्रतिष्ठ नरपति नल राजसमाज में अपने कामविकार की बात को धीरे-धीरे प्रकट हुई जानकर, लज्जा के मारे गड़ गये ॥५३॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥५४॥

ननु विवेकिनः कुत इदं चापलम् इत्यत आह—**अलमिति** । [**विवेक-प्रभवाः**] युक्तायुक्तविचारो विवेकः, तत्प्रभवा **अमी गुणा** धैर्यादयः, **नलमिदं** स्त्रीलाभरूपं **चापलं रोद्धुम्** । 'दुह-याच्'इत्यादिना रुधेर्द्विकर्मकत्वम् । **अलं**= समर्था **नाभवन् किल**=खलु । तथाहि—**स स्मर** =कामः, जनमिति शेषः । **रत्यां**= रागे, **अनिरुद्धं सृजति**=अनीश्वरमवशं करोति । **रत्यां**=रतिदेव्यां **अनिरुद्धाख्यं**= कुमारं **सृजति** इति ध्वनिः । इति **यत् अयं सर्गनिसर्गः**=सृष्टिस्वभावः, **ईदृशः** । 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि च', 'अनिरुद्धः कामपुत्रे चारे चानीश्वरेऽपि च'इति विश्वः । अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥५४॥

नल के विवेक-जन्य (धैर्य आदि) गुण भी उनकी कामचपलता को रोकने में समर्थ नहीं हुए; क्योंकि कामदेव (प्रद्युम्न) रति (अनुराग) होने पर, अ-निरुद्ध बना ही देता है। यही सृष्टि का धर्म (नियम) है ॥५४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥५५॥

अथास्य मनोरथसिद्धयौपयिकं दिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति—**अनङ्गेति।** **स**=नैषधो नलो **यत्नवानपि, अनङ्गचिह्नं**=मूर्छाप्रलापादिस्मरविकारं **विना, संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक, तदा आरामविहारकैतवाद्**=उपवनविहरणव्याजात्, **निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष**=देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः। एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः ॥५५॥

जब नल यत्न करने पर भी कामविकार के चिह्न प्रकट किए बिना संसद्-भवन में क्षणभर बैठने में समर्थ न हुए तो उपवन-विहार के बहाने निर्जन स्थल में जाने के लिए तत्पर हुए ॥५५॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥५६॥

अथेति। अथ=अनन्तरं, **श्रिया**=सौन्दर्येण **भर्त्सितमत्स्यकेतनः**=तिरस्कृतस्मरः स नलः, **स्वरहस्यवेदिभिः**=निजभैमीरागमर्मज्ञैः। वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः। 'स्निग्धो वयस्यः सवयाः' इत्यमरः। तैः [**वयस्यैः**] **समं**=सह **पुरोपकण्ठोपवनं**=नगरसमीपारामम् **ईक्षिता** = द्रष्टा। तृन्नन्तमेवैतत्। अत एव 'न लोके' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। **किल** इत्यलीके। **निदेशकारिणः**=आज्ञाकरान्, **यानाय**=यानमानेतुमित्यर्थः। 'क्रियार्थ' इत्यादिना चतुर्थी। **दिदेश**=आज्ञापयामास ॥५६॥

इसके बाद अपने सौन्दर्य से कामदेव को अंगूठा दिखाने वाले नल ने—अपना रहस्य जाननेवाले हमजोली मित्रों के साथ—नगर के पास उपवन देखने की इच्छा से, नौकरों को सवारी लाने की आज्ञा दी ॥५६॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम्।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

अमी इति। ततः=आज्ञापनान्तरं, **अमी**=निदेशकारिणः **तस्य विभूषितम्**=अलङ्कृतं, **जवेऽपि**=वेगेऽपि **मानेऽपि** [**पौरुषाधिकं**] पौरुषात् पुरुषगति-

वेगात् पुरुषप्रमाणात् चाधिकं । 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु'इत्यमरः । 'पुरुषहस्तिभ्यामण् च'इत्यण्प्रत्यय । **अजस्रचञ्चलैः** = अजस्रं चञ्चलैः चटुलस्वभावैः **खुराञ्चलैः**=शफाग्रैः **क्षोदितं मन्दुरोदरं**=चूर्णीकृताश्वशालाभ्यन्तरं । 'वाजिशाला तु मन्दुरा'इत्यमरः । एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं; **सितं**=श्वेतम् **अश्वम् उपाहरन्**= निन्युरित्यर्थः ॥५७॥

तब नौकर लोग उनका—सफेद, आभूषणों से अलङ्कृत, क़द में और वेग में पुरुष-प्रमाण से अधिक बली-घोड़ा ले आये। वह घोड़ा निरन्तर अपनी चञ्चल टापों से अस्तबल का फ़र्श खोदता रहता था ॥५७॥

अथान्तरेणावटुगामिनाध्वना निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः ।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥५८॥

अथ सप्तभिः कुलकमाह—**अथेत्यादि** । **अथ** = आनयनानन्तरं, स नलः हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः । कथंभूतम् ? **आन्तरेण** = आभ्यन्तरेण **अवटुगामिना** =कृकाटिकाख्यमस्तकपृष्ठभाजा । 'अवटुर्घाटा कृकाटिका'इत्यमरः । **अध्वना**=मार्गेण **निगालगात्** = गलोद्देशात् । 'निगालस्तु गलोद्देशः'इत्यमर । [**देवमणेः**] देवमणिः आवर्त्तविशेषः । 'निगालजो देवमणि'इति लक्षणात् । दिव्यमाणिक्यं च गम्यते । तस्माद् **उत्थितैरिव** = स्थितैरिव इत्युत्प्रेक्षा । **निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः** = चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा । [**केसरकेशरश्मिभिः**] केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं, **तैर्विराजितम** ॥ ५८ ॥

उस घोड़े की गर्दन पर के बाल—चन्द्रमा की किरणों के समान चमकीले और देवमणि के समान घुघुराले बाहर की ओर निकले हुए मालूम पड़ते थे ॥५८॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥५९॥

अजस्रेति । [**अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः**] अजस्रेण भूमितटकुट्टनेन, उद्गतै-रुत्थितैः, **रेणुभिः** । [**रयप्रकर्षाध्ययनार्थं**] रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्य, अध्ययनार्थम् अभ्यासाय, **आगतैः**, **अणिमाङ्कितैः** = अणुत्वपरिमाणविशिष्टैः, **जनस्य** =लोकस्य **चेतोभिरिव**, इत्युत्प्रेक्षा । **चरणेषु** = पादेषु **उपास्यमानं**=सेव्यमानम् । अणुपरिमाणं मन इति तार्किकाः ॥ ५९ ॥

निरन्तर फ़र्श खोदने से उठी हुई धूल के कण—उसके चरणों की सेवा

करते थे जो ऐसा मालूम पड़ता था कि मानों उससे द्रुतगति सीखने के लिए आ
हुए अणुपरिमाण रूप में लोगों के चित्त हों ॥ ५९ ॥

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

चलाचलेति । पुनः, **चलाचलप्रोथतया** = स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया 'चरिचलिपतिवदीनामुपसंख्यानम्' इत्यनेन चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । **महीभृते**=नलाय, **स्ववेगदर्पान्** = वेगातिरेकान् **वक्तुमुत्सुकम्** = उद्युक्तम्, **इव** इत्युत्प्रेक्षा । अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते—**अलमिति** । गिरा=उक्त्या, **अलं** कुतः? **अयं** = नलः, **स्वयं हयस्य** = अश्वस्य **आशयम्** = अभिप्रायं **वेद** = वेत्ति, **किल** । 'विदो लटो वा' इतिणलादेशः । **इति** हेतोरिवेत्यनुषङ्गः । **मौनं** = तूष्णीम्भावं **च**, **आस्थितं** = प्राप्तम् । 'अश्वहृदयवेदी नल' इति प्रसिद्धिः ॥६०॥

चलने के समय अपने नथुनों को फुलाता हुआ वह घोड़ा ऐसा मालूम होता था मानों अपने वेग के बारे में दर्पभरी बात कहने को उत्सुक हो; पर वाणी से क्या कहें ? क्योंकि नल स्वयं घोड़े के अभिप्राय को जानते हैं—इस लिए मौन धारण कर लिया ॥ ६० ॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशःसितम् ।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥६१॥

महारथस्येति । महान् रथो यस्य तस्य **महारथस्य** । 'आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्ध्येत यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ।' इत्युक्तलक्षणस्य रथिकविशेषस्येत्यर्थः । अन्यत्र, महारथो नलस्तस्य महारथस्य । [**चक्रवर्तिनः**] चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती सार्वभौमः, तस्य नलस्य । 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः । सगरः कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः' इत्यागमात् । अन्यत्र, चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः । **अध्वनि**=मार्गे, [**परानपेक्षोद्वहनाद् यशःसितम्**] नापेक्षत इत्यनपेक्षं । 'पचाद्यच्' । परेषामनपेक्षं, तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहनाद्धेतोः, यशःसितं कीर्त्तिविशदं, अत एव **अनीदृशाम्** = ईदृग्यशोरहितानाम् । 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्' इति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः । **रवेः**=सूर्यस्य, **अर्वताम्** = अश्वानाम्, **अन्तर्बलम्** = अन्तःसारं, [**रदावदातांशुमिषात्**] रदानां दन्तानां, ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषात्, **हसन्तं** = हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः ।

अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'रदना दशना दन्ता रदाः' इत्यमरः ॥६१॥

वह घोड़ा—महारथी, चक्रवर्ती नल को—मार्ग में, बिना किसी दूसरे घोड़े की सहायता के—ले जाने के यश से सफेद था; और अपने दाँतों की निर्मल चमक के बहाने, मानों सूर्य के घोड़ों के आन्तरिक बल का उपहास करता था ॥६१॥

सिततित्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटां चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

सिततित्विष इति । पुनः कथम्भूतं ? **सिततित्विषः** = विशदप्रभस्य, **चञ्चलतामुपेयुषः** = चञ्चलस्येत्यर्थः । **पुच्छस्य** = लाङ्गूलस्य, **केसरस्य** = सटासमूहास्य **च मिषेण** = च्छलेन [**चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः**] चलतश्चामरयुग्मस्य, चिह्नकैः लक्षणैः । **स्फुटां** = प्रसिद्धां, [**निजवाजिराजताम्**] निजां, वाजिराजताम् = अश्वेश्वरत्वम्, **अनिह्नुवानं** = प्रकाशयन्तमिव । अराज्ञः कथं चामरयुग्ममिति भावः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

सफेद चमकवाली चञ्चल पूछ और गर्दन पर के सफेद चञ्चल बाल के बहाने—राजचिह्नरूपी दो चँवरों से मानों वह अपने को 'अश्वराज' प्रकट कर रहा था ॥६२॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥६३॥

अपीति । पुनः कथम्भूतं स्थितं ? **रयस्मये** = वेगप्रयुक्ताहङ्कारे, **प्रसभं** = प्रसह्य, **जितस्य** = प्रागेव निर्जितस्य, **गरुत्मतः**, [**मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया**] मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना, आयता दीर्घा, वल्गू रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया, तन्मिषेणेत्यर्थः । [**द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे**] द्विजिह्वानाम् अहीनाम्, अभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि, **प्रतिमल्लतां** = प्रतिद्वन्द्वितान्, **उपेयिवांसं** = प्राप्तम् इवेत्यर्थः । तथा च गम्योत्प्रेक्षेयं 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः ॥६३॥

अपनी चाल की गर्व में, बलात् जीते गये गरुड के सर्पों के खाने के पौरुष में, वह घोड़ा—मुँह में लगी हुई सुन्दर और लम्बी लगाम (रूपी सर्प) से—गरुड की प्रतिद्वन्द्विता करता था ॥६३॥

स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥६४॥

स इति । [**जिताखिलक्ष्माभृत्**] जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन सः । **अनल्पलोचनः**=विशालाक्षः, अन्यत्र बहुनेत्रः, सहस्राक्ष इति यावत् । **स क्षितिपाकशासनः**=क्षितीन्द्रो नलः, देवेन्द्रश्च । **सिन्धुजं**=सिन्धुदेशोद्भवं, समुद्रोद्भवञ्च । 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः । **शीतमहःसहोदरं**=चन्द्रसवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरम्, एकयोनित्वादिति भावः । **उच्चैःश्रवसः**=इन्द्राश्वस्य, **श्रियं हरन्तं**, तत्स्वरूपमित्यर्थः । **त हयम्** । **आरुरोह** । अत्रोच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तमिवेत्युपमा । सा च श्लिष्टविशेषणात् श्लेषसङ्कीर्णा । क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

सिन्धु (सिन्धुदेश, सागर) में उत्पन्न हुए, चन्द्रमा के वर्ण (सफेद, चन्द्र-भ्राता) तुल्य और उच्चैःश्रवा की शोभा को मात करनेवाले घोड़े पर—अखिल राजोच्छेता, विशाल नेत्रवाले, पृथ्वीतल के इन्द्र—नल सवार हुए ॥६४॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥६५॥

निजा इति । **निजाः** = आत्मीयाः, **प्रकाशरूपाः** उज्ज्वलाकाराः, भास्वररूपाश्च । अश्वान् वारयन्तीत्यश्व**वाराः**=अश्वारोहाः । **स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं** = पद्मरेखाङ्कितहस्तम्; अन्यत्र पद्महस्तं । [**जवनाश्वयायिनं**] जवनो जवशीलः । 'जुचङ्क्रम्य' इत्यादिना युच् । तेनाश्वेन, अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति तथोक्तम् । [**मनुजेशं**] मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च, **तं** = नलं **तिग्मदीधितिं** = सूर्यं **मयूखा इव, अन्वयुः** = अन्वगच्छन् । यातेर्लिट् झेर्जुसादेशः ॥

कमलरेखाङ्कित कर-कमलवाले और वेगवान् घोड़े पर जानेवाले महाराज नल के पीछे, दीप्तिशाली घुड़सवार इस प्रकार चले—जैसे सूर्य के पीछे सूर्य की किरणें जाती हैं ॥ ६५ ॥

चलन्नलंकृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥६६॥

चलन्निति । **वाहवाहोचितवेषपेशलः** = अश्वारोहोचितनेपथ्यचारुः । 'चारौ दक्षे च पेशलः' इत्यमरः । **स नलो महारयम्** = अतिजवं **हयम्** = अश्वम्,

अलङ्कृत्य चलन्=स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः। [प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः] प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि, अक्षिपक्ष्माणि येषां तैः=अनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः। नगरालयैः=नगरनिवासिभिरित्यर्थः। लोकैः=जनैः व्यलोकि=विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥६६॥

घुड़सवारी के वेश से मनोहर और हवा से बात करनेवाले घोड़े पर जाते हुए नल को—नागरिक जनता हर्ष के कारण निर्निमेष दृष्टि से देख रही थी ॥६६॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥६७॥

क्षणादिति। अथ=अनन्तरं क्षणदापतिप्रभः=चन्द्रद्युतितुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः=इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष=नलः। [प्रभञ्जनाध्येयजवेन] प्रभञ्जनेन वायुना, अध्येयः शिक्षणीयः, जवो वेगो यस्य तथाविधेन, ततोऽप्यधिकवेगेनेत्यर्थः। वाजिना=अश्वेन, क्षणात् ताभिः=पूर्वोक्ताभिः, [जनदृष्टिवृष्टिभिः] जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह, जनैर्दृश्यमान एव इत्यर्थः। बहिःपुरः=पुराद्बहिः, बहिःस्थित अभूत्। बहिर्योगे पञ्चमी। पूर्वं पुरे दृष्टः, क्षणादेव पुराद्बहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ॥ ६७ ॥

फिर निशानायक चन्द्र के समान कान्तिवाले और इन्द्र के समान पराक्रमशाली नल—पवन भी जिस की तीव्रगति से शिक्षा ले सकता था ऐसी तेज चालवाले—घोड़े पर सवार होकर, मिनटों में लोगों की नज़र पड़ते-पड़ते, नगर के बाहर निकल गये ॥ ६७ ॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे।
मृषामृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥६८॥

तत इति। ततः=पुराद्बहिर्गमनान्तरं, प्रतीच्छ=गृहाण, प्रहर=जहि इति भाषिणी=भाषमाण इत्यर्थः। [परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे] परस्परमन्योन्योपरि, उल्लासितानि प्रसारितानि, शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते। 'शल्यं तोमरम्' इति अमरः। नलस्य नासीरगते=नासिकाग्रवर्तिनि। 'सेनामुखं तु नासीरम्' इत्यमरः। सादिबले=तुरङ्गसैन्ये, कुतूहलात्, मृषामृधं=मिथ्यायुद्धं, युद्धनाटकमित्यर्थः वितेनतुः=चक्रतुः। 'मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इत्यमरः ॥६८॥

वहाँ पहुँच कर 'लो मारो, मेरी भी मार सहो'—ऐसा कह कर उस सेना ने

एक दूसरे पर भाले की नोक चलायी ; इस प्रकार नल की सेना के अगले मोर्चे पर स्थित घुड़सवारों की दो टुकड़ियों ने—कुतूहल से नकली लड़ाई का अभ्यास किया ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥६९॥

प्रयातुमिति । **इयं धरा**=भूः, समुद्रातिरिक्तेति भावः । **अस्माकं प्रयातुं**=प्रस्थातुं **कियत्पदं**=गन्तव्यं स्थानं न किञ्चित् पर्याप्तमित्यर्थः । [**तदम्भोधिरपि**] तस्माद् समुद्रोऽपि **स्थलायतां**=स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति क्यङ् प्रत्ययः । **इतीव**=इति मत्वेत्यर्थः । इतिनैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात् । क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा । [**निजवेगदर्पितैः**] निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः, **वाहैः**=नलाश्वैः **पयोधिरोधक्षमं**=समुद्रच्छादनपर्याप्तं, **रज उत्थितम्**=उत्थापितं, तथा सान्द्रमिति भावः ॥ ६९ ॥

'हमारे चलने पर, यह पृथ्वी रह ही कितनी कदम जायगी--इस लिए समुद्र भी स्थल हो जाय ।' ऐसा विचारकर, अपने वेग पर गर्व करनेवाले घोड़ों ने, मानो समुद्र को पाटने के लिए पर्याप्त, धूलि उड़ायी ॥ ६९ ॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥७०॥

हरेरिति । **यत् खम्**=आकाशं **हरेः**=विष्णोः, **एककेन**=एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्ययः । **पदा**=पादेन । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'पद्दन्' इत्यादिना पदादेशः । **अक्रामि**=अलङ्घि, **तस्य**=खस्य **चतुर्भिः पदैः क्रमणे**=लङ्घने, कृते सत्यपीति शेषः । **हरीणां**=वाजिनां, विष्णूनां चेति गम्यते । 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । उभयत्रापि **नः**=अस्माकं **त्रपा इति** वा इत्यर्थः । गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः । अत एव गम्योत्प्रेक्षा । [**नम्रिताननैः**] नम्रीकृतानिः, निम्नीकृतानि आननानि यै **स्तैः**=हरिभिः । [**अर्धनभःकृतक्रमैः**] अर्द्धे नभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिः **न्यवर्त्ति**=निवर्त्तितम्, भावे लुङ् । यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलङ्घनस्य सम्भवादिति भावः ॥७०॥

जिस आकाश को विष्णु ने (वामनावतार में) एक पग से आक्रान्त किया

था, उसी (आकाश) को हम चार पैरों से आक्रान्त करेंगे—ऐसा सोचकर, घोड़े नीचा मुँह कर, आकाश में आधी दूर जाकर, रुक गये ॥७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः ।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरि तुरङ्गमानपि ॥७१॥

चमूचरा इति । **तस्य नृपस्य, चमूचराः**=सेनाचराः । 'चरेष्टच्' । सिन्धुदेशभवाः **सैन्धवाः** = अश्वाः । 'हयसैन्धवसप्तयः' इत्यमरः । 'तत्र भवः' इत्यण्प्रत्ययः । तत्सम्बन्धिनोऽपि सैन्धवाः 'तस्येदम्' इत्यण् । ते **सादिनः** = अश्वसादिन इत्यर्थः । **जिनोक्तिषु श्राद्धतया इव** = जैनदर्शनश्रद्धालुतयैवेत्युत्प्रेक्षा । 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणः'इतिमत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः । **तं विहारदेश** = सञ्चारभूमिं, सुगतालयञ्च । 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये'इति विश्वः । **अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि** = बहुलं **मण्डलीमपि** = मण्डलाकारं च, **अकारयन्** । अपिशब्दोऽवातिसमुच्चयार्थः । अन्यत्र मण्डलीं मण्डलासनमित्यर्थः । बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति इति प्रसिद्धिः ॥७१॥

उस राजा के सिन्धुदेशीय घोड़ों के सवार सैनिकों ने—जिस प्रकार बुद्ध के उपदेश पर श्रद्धा करनेवाले अपने विहार (बौद्धमठ) में आकर, मण्डलाकार खड़े हो जाते हैं—उसी प्रकार विहार (विहारभूमि) में पहुँचकर, घोड़ों को मण्डलाकार खड़ा कराया ॥७१॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रियामण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥७२॥

द्विषद्भिरिति । अस्य = नलस्य **द्विषद्भिरेव,** पलायमानैरिति भावः । **दिशो विलङ्घिताः, अस्य यशोभिरेवाब्धिः** । गोः पदं **गोष्पदमकारि** = गोष्पदमात्रः कृतः । 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे'इति सुडागमषत्वयोर्निपातः । **इतीव** = इति मत्वा इवेत्युत्प्रेक्षा; अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः । **तुरङ्गमैः धारां**= गतिं । जातावेकवचनं; पञ्चापि धारा इत्यर्थः । 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम् । गतयोऽमूः पञ्च धाराः'इत्यमरः । **अवधीर्य** = अनादृत्य **मण्डलीक्रियाश्रिया** = मण्डलीकरणलक्ष्म्या, मण्डलगत्यैवेत्यर्थः । **स्थली** = कृत्रिमा भूः । 'जानपद'इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीप् । **अमण्डि** = अभूषि । मडि भूषणायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्वान्नुमागमः ॥७२॥

इनके शत्रुओं ने भागकर, दिशाओं का उल्लङ्घन किया है, इनके यश ने सागर को गौ के खुर के समान (गड़ही) बना दिया है—ऐसा विचारकर, घोड़ों ने अपनी (टेढ़ी-मेढ़ी) चाल छोड़कर, उस स्थल को मण्डलाकार खड़े होकर, अलंकृत किया ॥

अचीकरच्चारुहयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।
मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचंक्रमान् ॥७३॥

अचीकरदिति । **नलः** [**चारुहयेन**] चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा । **निजातपत्रस्य, तलस्थले** = अधःप्रदेशे । 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः । **याः भ्रमीः** = मण्डलगतीः **अचीकरत्** = कारितवान् ; करोतेर्णौ चङ् । **तासु** = भ्रमीषु विषये **मरुत् अद्यापि** । [**वात्यामयचङ्क्रमान्**] वातानां समूहो वात्याः, वातादिभ्यो यः । अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते । तन्मयान् तद्रूपान् , चक्रचंक्रमान् मण्डलगतीः, **वितत्य** = विस्तीर्य्य **न शिक्षते** किं ? = नाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा । शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः । वायोरप्यसम्भाविता गतीरचीकरदिति भावः ॥७३॥

नल ने अपने राजछत्र के नीचे सुन्दर घोड़े द्वारा जो मण्डल गति करायी, उसको पवन अब भी आँधीके रूपमें गोल-गोल घूमकर क्या नहीं सीख रहा है ? ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ॥७४॥

विवेशेति । ततः **स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया** = सन्तोषकाङ्क्षया । [**प्रवालरागच्छुरितं**] प्रवालाः पल्लवाः; अन्यत्र विद्रुमाः । 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लवे' इत्यमरः । तेषां रागेणारुण्येन, छुरितं रूषितं । **घनच्छायं** = सान्द्रानातपम् , अन्यत्र मेघकान्तिम् । 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इति विश्वः । **विलासकाननं** = क्रीडावनम्; अन्यत्र वबयोरभेदात् , बिलसकानां बिलेशयानां सर्पाणाम् , आननं प्राणनं । **सुषुप्सया** = स्वप्तुमिच्छया, **हरिः** = विष्णुः, **अम्भसां निधिम्** = अब्धिम् , **विवेश** ॥७४॥

जिस तरह विष्णु—मूँगे के रङ्ग से व्याप्त और मेघ की कान्तिवाले सागर में सर्पराज की पीठ पर शयन की अभिलाषा से जाते हैं, उसी तरह राजा नल सन्ताप दूर करने के लिए लाल-लाल पल्लवों की कोरों से रञ्जित और घनी छायावाले विलास-कानन में [illegible] पहुँच गये ॥७४॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्त्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥७५॥

वनान्तेति । अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः=स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । पुरौकसां=नगरनिवासिनां दृष्टिप्रकरैः=दृष्टिसमूहैः कर्तृभिः । वनान्तपर्यन्तं = काननोपान्तसीमाम्; उदकप्रान्तपर्यन्तञ्चेति गम्यते । 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । सस्पृहं = साभिलाषं यथा तथा उपेत्य = गत्वा; क्रमेण तस्मिन् = नले अवतीर्णदृक्पथे = अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति । न्यवर्त्ति=निवृत्तं । भावे लुङ् । यथा बन्धुभिः 'उदकात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्' इत्यागमात् प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्त्यते तद्वदित्यर्थः ॥७५॥

तब पीछे पीछे जानेवाले आत्मीयजनों के तुल्य नगर-निवासियों की आँखें—प्रेमपूर्वक वन की छोर तक जाकर, नल के नजरों से ओझल होने पर—क्रमशः लौटीं ॥ ७५ ॥

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः ।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत् काननरामणीयकम् ॥७६॥

तत इति । ततः = वनप्रवेशानन्तरं, स जनाधिपः = नलः, मञ्जुले=मनोज्ञे प्रसूने = कुसुमे च फले च विषये, [सम्मुखीनाङ्गुलिना] सम्मुखीना सन्दर्शिनी, सम्मुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत् । 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' इति खप्रत्यान्तो निपातः । तादृशी अङ्गुली यस्य तेन । वनपालपाणिना निवेद्यमानम्; इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः । काननरामणीयकं = वनसौन्दर्यम् । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः । व्यलोकयत्=अपश्यदिति स्वभावोक्तिः ॥७६॥

फिर नल ने सुन्दर फूलों और फलों से लदे हुए उपवन की शोभा देखी–जिसे माली ने सामने अंगुलि करके दिखाया ॥७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥७७॥

फलानीति । [वयोतिपातोद्गतवातवेपिते] वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन, बाल्याद्यपगमेन च, उद्गतेन उत्थितेन, वातेन वायुना वातदोषेण च, वेपिते कम्पिते । 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । पल्लव एव करः इति रूपकं । फलानि

पुष्पाणि च **समाधाय**=निधाय **स्थितैः**=तिष्ठद्भिः **वने शाखिभिः**=वृक्षैः, वेदशाखाध्यायिभिश्च। 'शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपि' इति वैजयन्ती। **तदातिथ्यं**=तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म। 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः। [**महर्षिवार्द्धकात्**] महर्षीणां वार्धकाद्वृद्धसमूहात्, तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः। शिवभागवतवत्समासः। 'वृद्धसङ्घे तु वार्द्धकम्' इत्यमरः। 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्' इति समूहार्थे वुञ् प्रत्ययः। **अशिक्षि**=शिक्षितमभ्यस्तम्; अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः। कर्मणि लुङ्। उत्प्रेक्षेयं, सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः ॥७७॥

वन में स्थित वृक्षों ने-(वन में स्थित) महर्षि-वृद्धों से, पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न हुई वायु से हिले हुए (अवस्था ढलने के कारण वातरोग से काँपते हुए), पल्लव रूपी हाथ (पल्लव के समान हृढ हाथ) में फल और फूल रख कर, मानों उस नल का अतिथि सत्कार करना सीखा ॥७७॥

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम्॥७८॥

विनिद्रेति। विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात्=विकचदलावलिस्थितभृङ्गमिषात्। [**मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्**] मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुः, वर्जनेन परिहारेण, अर्जितं सम्पादितं। 'न केतक्या सदाशिवम्' इति निषेधादिति भावः। **आशासु, चरिष्णु**=सञ्चरणशीलं। 'अलङ्कृञ्' इत्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्ययः। **दुर्यशः**=अपकीर्त्तिं, **दधानं केतकं**=केतकीकुसुमं, **तत्र**=वने **सः**=नलः **कौतुकी** सन् **ददर्श**। अर्हस्य महापुरुषस्य बहिष्कारो दुष्कीर्त्तिकर इति भावः। अत्राऽलिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारोपादपह्नुत्यलङ्कारः। 'निषिध्य विषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात् ॥ ७८ ॥

उपवन देखने की उत्कण्ठा वाले नल ने, वहाँ विकसित पत्तों की कतार पर बैठे हुए भौंरों के बहाने, मृगाङ्कचूडामणि शिवजी के ऊपर न चढ़ने वाले और चारो दिशाओं में फैलने वाली अपनी बदनामी को धारण करने वाले, केतकी के फूल को देखा ॥७८॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिकारः स्मरेण यत्।
ततो दुराकृषतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥७९॥

अथ त्रिभिः केतकोपालम्भमाह—**वियोगेत्यादि**। हे केतक !, **यत्** = यस्मात् त्वं **स्मरेण वियोगभाजां हृदि, कण्टकैः** = निजतीक्ष्णावयवैः। **कटुः** = तीक्ष्णः, केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वं विशेषणविवक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः; किन्तु उद्देश्य-विशेषस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम्। कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं, तद्वान् शरः **कर्णिशरः** सन् **निधीयसे**। कण्टककटोः केतकस्य कर्णिशरत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः। ततः कर्णिशरत्वादिवद् **दुराकर्षतया** = दुरुद्धारतया, **तदन्तकृत्** = तेषां वियोगिनां मारकं, **मन्मथदेहदाहिना** = स्मरहरेण, **विगीयसे** = विगर्ह्यसे। द्वेष्यवत् द्वेष्योप-करणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः। अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकी-विगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा, व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या; सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७९ ॥

अरी केतकी ! जो तू कामदेव के द्वारा, वियोगियों के हृदय में नुकीले बाण की तरह, अपने काँटों से भीषण रूप में चुभा दी जाती हो और अन्त में काम-बाण न निकल सकने के कारण वियोगियों की प्राणान्तकारिणी हो जाती हो तभी तो काम-देव के नाश करने वाले शिवजी तुम्हारी निन्दा करते हैं ॥ ७९ ॥

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।
स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥८०॥

त्वदिति। [**त्वदग्रसूचीसचिवः**] तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः। **स** = प्रसिद्धो **मनोभवः** [**कामिनोः**] कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः। 'पुमान् स्त्रिया'इत्येकशेषः। [**दुर्यशःपटौ**] दुर्यशांसि अपकीर्त्त-यस्ताः पटाविति रूपकं। तानि **सीव्यति**=कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः। किञ्चेति चार्थः। **स्फुटं** = स्पष्टं **करपत्रमूर्त्तिभिः** = क्रकचारैः। 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्'इत्यमरः। **पत्रैस्तैः**, [**वियोगिहृद्दारुणि**] वियोगिनां हृद्येव दारुणि। दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता। स इवाचरतीति **दारुणायते**। 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च'इति क्यङ-न्तात् लट्। दारुणायत इत्युपमा; सा च हृद्दारुणीति रूपकानुप्राणितेति सङ्करः ॥

(अरी केतकी) तुम्हारे काँटे रूपी सूई के सहारे, वह कामदेव कामी तथा कामिनी के दुर्यशरूपी दो वस्त्रों को बुनता है और तुम्हारे स्पष्ट आरे के तुल्य पत्तों से वियोगियों के हृदयरूपी काठ पर आरा चलाया करता है ॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।

प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाक्रुश्यत तेन केतकम् ॥८१॥

धनुरिति । हे केतक ! प्रसूनं धनुर्यस्येति **प्रसूनधन्वा** पुष्पचापः । 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेशः । अत एव [**धनुर्मधुस्विन्नकरः**] धनुषो मधुना मकरन्देन, स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन्, अत एव **तव परागैः**=रजोभिः, **धूलिहस्तयन्** = पुनः पुनः धूल्युद्धावितहस्तमात्मानं कुर्वन्; अन्यथा धनुस्रंसनादिति भावः । तत्करोतेर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । **अति भीमजापरम्** = अतिमात्रं दमयन्त्यासक्तं, **मां शरसात्** शराधीनं **करोति** । 'तदधीने च'इति सातिप्रत्ययः । अन्यथा स्रस्तचापः मां किं कुर्यादिति भावः । इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति । **तेन** = राज्ञा **इति क्रुधा केतकमाक्रुश्यत** = अपराधोद्घाटनेन अघोष्यतेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

(अरी केतकी) पुष्पबाणधारी कामदेव—पुष्पमय धनुष में से रिसते हुए रस से गीले हाथवाला होकर भी, तुम्हारी (फूल की) धूलि के समान पराग से हाथ मलकर, दमयन्ती के प्रति अत्यन्त आसक्त हुए मुझे अपने बाण का निशाना बनाता है । इस प्रकार क्रोधपूर्वक नल ने केतकी के फूल की लानत-मलामत की ॥८१॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥८२॥

विदर्भेति । **स** = नलः । 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया'इति शब्दार्णवे । [**दोहदधूपिनि**] दोहदश्चासौ धूपश्च । तदुक्तं—मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानयं प्रयोगः स्यात् दाडिमीफलवृद्धये । मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मांसैराजाविकोद्भवैः । लेपिता धूपिता सूते फलं तालीव दाडिमी । आविक्राथेन संसिक्ता धूपिता तत्तरोमभिः । फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथुनि च इति । तद्वति **दाडिमे द्रुमे फलानि** [**विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये**] विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः, स्तनयोर्या तुङ्गता, तदाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः । **अलम्** = अत्यर्थं **तपस्यतः** = तपश्चरतः । 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः'इति क्यङ्प्रत्यये 'तपसः परस्मैपदञ्च' वक्तव्यं । **धूमस्य** = दोहदधूमस्य धयन्तीति **धयान्** = पातॄन्, धेटपाने अत्र'आतश्चोपसर्गे' इति उपसर्गग्रहणं नानुवर्त्ति पक्षत्वात् 'पा घ्रा'इत्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः । अत एव काशिकायां 'केचिदुपसर्ग इति नानुवर्त्तयन्ति'इति **अधोमुखान् घटान् इव** । **अपश्यत्**, इत्युत्प्रेक्षा, महाफलार्थिन इत्थं उग्रं तपस्यन्तीति भावः ॥ ८२ ॥

जिस में फल अधिक आने के लिए धूप दी जाती थी—ऐसे अनार के पेड़ में नल ने फल लगे हुए देखे। जो ऐसे प्रतीत होते थे मानों विदर्भकुमारी दमयन्ती के स्तनों का औन्नत्य प्राप्त करने के लिए, धुँआ पीकर और नीचे की ओर मुँह कर के, घड़े (कलश) तपस्या कर रहे हों॥ ८२॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम्।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम्॥८३॥

वियोगिनीमिति। **असौ**=नलः **प्रियस्मृतेः**=दयमन्तीस्मरणादिव **स्पष्टं** व्यक्तम्। उदीतेति ईण्गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः। [**उदीतकण्टकम्**]उदीरिताः उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम्। 'वेणौ-द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टकः' इति वैजयन्ती। **फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगां** = फलान्येव स्तनौ, तावेव स्थानं, तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि, रक्तवर्णमनुरक्तञ्च, यत्तस्मिन् हृदि, विशत् बीजभक्षणान्तः-प्रविशत् शुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव, स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो, यस्यास्तां। **दाडिमीमेव वियोगिनीं** = विरहिणीम् **ऐक्षत** = अपश्यत्। रूपकालङ्कारः। विः पक्षी, तद्योगिनीमिति च गम्यते॥ ८३॥

जिस प्रकार वियोगिनी नायिका अपने प्रियतम की सुधि कर के, रोमाञ्चित हो जाती है और उससे स्तनस्थल के बीच में चुभने का अनुभव करती है, उधर कामदेव रागि (अनुरक्त) हृदय में लाल टेसू के बाण से विदीर्ण करता है; उसी प्रकार नल ने (वियोगिनी नायिका की भाँति दाडिमी (अनारप्रेयसी) को देखा—जिसके शरीर कण्टकित थे (मानो अपने प्रियतम की सुधि कर के रोमाञ्चित हो रही हो), जिस के गोल आकार मानो उरोज थे, जिस के रागि (प्रियतम पर अनुरक्त) हृदय (भीतर के लाल-लाल दाने) को सुग्गे अपनी चोंच से विदीर्ण कर रहे थे (मानो कामदेव ने अपने टेसू के बाणों से उसे विदीर्ण किया हो)॥८३॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्॥८४॥

स्मरार्द्धेति। **स** = नलः [**स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे**] स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः, अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे, नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः। अत एवाहामरः—'स्युरुत्तरपदे त्वमी—निभ-सङ्काश-नीकाश-प्रतीकाशोपमादयः' इति। [**वियोगि-**

हृत्खण्डिनि] वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि, **कृशीयसां** = कृशतराणाम् **अध्वजुषां** = अध्वगामिनाम् । **पलाशनात्** = मांसभक्षणात्, पलाशे पलमश्नन्तीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि, किंशुककलिकायामित्यर्थः । **अन्वितं** = सम्बद्धं **स्फुटम्** **वृन्तं** = प्रसवबन्धनं, तदेव **कालखण्डज खण्डं** यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । **आलोकत** = आलोकितवान् । 'कालखण्डं यकृत्समे' इत्यमरः । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः ॥ ८४ ॥

नल ने कामदेव के अर्द्धचन्द्र बाण के समान एवं वियोगियों के हृदय को टुकड़े-टुकड़े करनेवाले 'पलाश' में वृन्त देखा । (जिसके देखने से) स्पष्ट हो रहा था कि वह अतीव दुर्बल विरही बटोहियों के यकृत् (जिगर) में चिपका हुआ मांस खण्ड है (इसीसे उसका पलाश नाम पल = मांस, का अशन करनेवाला हुआ)॥८४

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥८५॥

नवेति । गन्धवहेन=वायुना **चुम्बिता**=स्पृष्टा; अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता। **मकरन्दसीकरैः**=पुष्परसकणैः । **करम्बिताङ्गी** = व्यामिश्रितरूपा; अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते । [**स्मितशोभितकुड्मला**] स्मितशोभिनः विकासरम्याः, कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्याः सा मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते। **दरकम्पिनी** = वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी; सात्त्विकवेपथुमती च । **नवा, लता** = वल्ली, तत्सदृशी कान्ता च गम्यते । **नृपेण** = कर्त्रा । **दृशा** करणेन । **दरादराभ्यां** = भयतृष्णाभ्यां उपलक्षितेन सता । **पपे** = पीता; गाढं दृष्टा इत्यर्थः । उद्दीपकत्वात् दरः, प्रियासादृश्याद्‌दरश्च । 'दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती । अत्र प्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । 'विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात् । अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते' इति लक्षणात् ॥ ८५ ॥

वायु (इत्र, कपूर सुगन्ध लगाये हुए नायक) से चुम्बित (स्पृष्ट, चुम्बन की गयी) पुष्परस के कणों से व्याप्त अङ्ग वाली (पसीने से लथपथ शरीरवाली), मन्द मुस्कराहट के समान सुन्दर कली वाली (मन्द मुस्कराहट से सुन्दर दाँत वाली) और ज़रा-ज़रा हिलनेवाली (नायक स्पर्श के कारण काँपने वाली) नव लता (न बालता= तरुणी) को राजा नल ने दर (डर) और आदर के साथ नेत्रों द्वारा पान किया॥८५॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।

व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥८६॥

विचिन्वतीरिति । [**पान्थपतङ्गहिंसनैः**] पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः, नित्यपथिकाः । 'पन्थोऽण् नित्यम्' इत्यण्प्रत्ययः पन्थादेशश्च । त एव पतङ्गाः पक्षिणः । 'पतङ्गः पक्षिसूर्य्ययोः' इत्यमरः । तेषां, हिंसनैर्वधैः, [**अपुण्यकर्माणि अलिकज्जलच्छलात्**] अपुण्यकर्माण्येव, अलयः कज्जलानीवेत्युपमितसमासः । तेषां छलादित्यपह्नवालङ्कारः । **विचिन्वतीः** = संगृह्णतीः, हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । **चम्पककोरकावलीः**, **शम्बरारेः** = मनसिजस्य, **बलिदीपिकाः** = पूजादीपिका **इव** इत्युत्प्रेक्षा । **स** = नलो **व्यलोकयत्** ॥८६॥

नल ने चम्पे की कलियों की कतारें देखीं, मानो वे कामदेव की बलि-प्रदीप हों--जो विरही पथिक रूपी पतिङ्गा के जलाने से, भौरें रूपी काजल के बहाने, मानों पाप बटोर रही थीं ॥८६॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भज परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥८७॥

अमन्यतेति । असौ = नलः । [**कुसुमेषुगर्भजं**] कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं । **वियोगिनाम्** इति कर्मणि षष्ठी । अनन्धा अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं । 'आढ्यसुभगे' इत्यादिनाच्व्यर्थे ख्युन् प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मुमागमः । तं **परागं पुरा**=पूर्वं, **पुरारये** = पुरहराय **स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गत** = संसक्तं । [**तदङ्गभस्म**] तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म, **तदिव मन्यत** इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः, कुसुमेषव इत्यभिमानः । अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥८७॥

नल ने फूलों के भीतर पराग को—इस प्रकार विरहियों को कामान्ध करनेवाला—समझा; जैसे प्राचीनकाल में कामदेव से, पुरारि शिव पर चलाये गये फूल रूपी बाण में, लगी उनके अङ्ग की भस्म हो ॥८७॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥८८॥

पिकादिति । वने=उपवने श्रोतरि, **पिकाद्** वक्तुः सकाशात्, **भृङ्गहुङ्कृतैः वियोगिनां दशाम्** = अलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः । **उदञ्चत्करुणं** = विकसद्वृक्षविशेषम्, उद्यत् कृपं च यथा तथा **शृण्वति** सति । करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां

करुणा मता' इति विश्वः । **अनास्थया** = श्रोतुमनिच्छया, [**सूनकरप्रसारिणीं**] सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं, पुष्परूपहस्तविस्तारिणीं, तथोक्तामनिष्टकथां करे वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः । सूनकरेति प्रसारिणिमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम् । **स्थलपद्मिनीं नलो दूनः**=परितप्तः सन् । 'दूङः कर्त्तरि क्तः ।' 'ल्वादिभ्यश्च' इति निष्ठानत्वं । **ददर्श** ॥८८॥

खिले हुए फूल युक्त करुण नामक पेड़ वाले (वियोगियों के सन्ताप से उत्पन्न करुणा वाले) उस उपवन में कोयलों की कूक से और भौंरों की हुँकार से विरहीजनों की कष्ट-गाथा सुनते हुए (दमयन्ती-विरहजन्य सन्ताप से) दुखी हो नल ने स्थलकमलिनी को देखा—जो (वियोगियों की कथा सुनने से) अपनी उदासीनता को मानों फूल रूपी हाथ पसार कर व्यक्त कर रही थी ॥८८॥

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥८९॥

रसालेति । **अमुना**=नलेन, [**स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुंकृतिः**] स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषणे या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य सः । **समीरलोलै** = वायुचलैर्मुकुलैरङ्गुलिभिरिति भावः । **वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन्** = दातुमिच्छन्निव स्थितः । ददातेः सन् प्रत्ययः । 'सनि मीमा' इत्यादिना इसादेशः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । 'सस्यार्द्धधातुके' इति सकारस्य तकारः । **रसालसालः** = चूतवृक्षः **समदृश्यत** = सम्यग्दृष्टः । द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥८९॥

नल ने आम का पेड़ देखा—-जिसके ऊपर उड़-उड़कर भौंरे गुंजार कर रहे थे, मानो वह क्रोधपूर्वक हुँकार कर रहा हो । और वायु से हिलायी गयी कलियों से जो विरहियों को मानो फटकारने का भय दिखा रहा हो ॥८९॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च ।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥९०॥

दिने दिने इति । **रे** इति हीनसम्बोधने । **त्वं दिने दिने** अधिकं **तनुः एधि** = अधिकं कृशो भव । आस्तेर्लोट् सिप् । 'हुझल्भ्यो हेर्धि'इति धित्वम्, 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्येत्वं । **पुनः पुनः मूर्च्छ च मृत्युं** = मरणमृच्छ च इति **पान्थं** = नित्यपथिकं **शपतः** = शपमानान् इव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । **लोहितेक्षणान्**

=रक्तदृष्टीन् । एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यं, **पिकान्**=कोकिलान्, **द्विजान्**=पक्षिणो, ब्राह्मणांश्च ; **स**=नलः **खेदमैक्षिष्ट** स्वस्यापि उक्तशङ्कयेति भावः ॥ ९० ॥

उन्होंने लाल आँख वाली कोयल चिड़ियों को विषाद के साथ देखा—जो पथिकों (वियोगियों) को मानों यों शाप दे रही थीं कि अरे ! तुम दिन पर दिन दुबले होते जाओ, बार-बार मूर्च्छित होते रहो और मरते रहो ॥ ९० ॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥ ९१ ॥

अलिस्रजेति । **अलिस्रजा**=भ्रमरपङ्क्त्या, **उच्चशेखरम्**=उन्नतशिरोभूषणं, अलिमलिनाङ्गमित्यर्थः । 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । **चाम्पेयं**=चम्पकविकारं, **कुड्मलं** । 'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः । नन्वयुक्तमिदं, 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत्' इत्यादौ अलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं ; किन्तु स्प्रष्टेयं तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तिपरिहारः । अथ वा **चाम्पेयं**=नागकेसरं । 'चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वयः' इत्यमरः । **अधीरया दृशा निपीय**=विक्लवदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान् **स**=नलः । 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः' इति लक्षणात् । **वियोगिनां विपदे उदीतम्**=उत्थितं **धूमकेतुम् अशङ्कत**=अतर्कयत् इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९१ ॥

भौरों की पंक्ति से उच्च शेखर वाली चम्पा की कली (अथवा नागकेसर के फूल) को अधीरदृष्टि से खूब गौर के साथ देख कर, नल ने आशंका की कि यह वियोगियों के विनाश के लिए उदय हुआ कोई धूमकेतु है ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेशरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

गलदिति । **स**=नलो **गलत्परागं**=निर्यद्रजस्कं **भ्रमिभङ्गिभिः**=भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं **पतत्**=भ्रंश्यत् **प्रसक्तभृङ्गावलि**=सक्तालिकुलं **नागकेसरं**=कुसुमविशेषं, [**मारनाराच-निघर्षण-स्खलज्ज्वलत्कणं**] मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशरकर्षणैः, स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गाः, यस्य तं । **शाणं**=निकषोत्पलम् इत्युत्प्रेक्षा । **व्यलोकयत्** । 'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः ॥ ९२ ॥

उन्होंने पराग निकलते हुए नागकेसर के फूल को देखा—जिस पर बैठी हुई भौंरों की पंक्तियां रह-रह कर उड़जाती थीं। यह देख कर नल को ऐसा आभास हुआ मानों सान रखने का पत्थर हो और उस पर कामदेव के बाणों पर धार धरने से जलती हुई चिनगारियां छिटक रही हैं ॥ ९२ ॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद्गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥९३॥

तदङ्गमिति । सुगन्धि = शोभनगन्धं 'गन्धस्य'इत्यादिना समासान्त इकारः, **तदङ्गं** = तस्य नलस्य **अङ्गमुद्दिश्य** = लक्ष्यीकृत्य । [**गुणस्पृशः**] गुणो गन्धादिः मौर्वी च, 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु'इति वैजयन्ती । तत्स्पृशस्तद्युक्ताः। 'स्पृशोऽनुदके'इति क्विन्, **कुसुमात्** आपादानात् **पातुकाः** = धावन्तीः । 'लषपत' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः । **स्वनन्तीः** = ध्वनन्तीः **शिलीमुखालीः** = अलिपङ्क्तीश्च **अवलोक्य स्मरः** । [**स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्**] स्वचापात् पौरुषाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गताः, ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोः **लज्जितो**ऽभवत्, न्यूनमिति शेषः । दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः । अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद्भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शिलीमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९३ ॥

गुण-(सुगन्धित द्रव्य, प्रत्यञ्चा) ग्राही, शिलीमुखों (भौंरों, बाणों) की पंक्तियां, नल के अङ्ग की ओर गुञ्जन (शब्द) करती हुईं, कुसुमों (वृक्षस्थ-फूलों, कामदेव के पुष्पमय धनुष) से (उन्हें छोड़ कर) चली आयीं—इसे देख कर, कामदेव को भ्रम हो गया कि अपने धनुष से छूटे हुए बाण लक्ष्यभ्रष्ट हो गये, अतः वह लज्जित हो गया ॥ ९३ ॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् ।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥९४॥

मरुदिति । [**मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः**] मरुता वायुना, ललत्पल्लवानां चलत्किसलयानां, कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः **क्षतं** अन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते । [**समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्**] समुच्चरत् परितः प्रसर्पत्, चन्दनासारस्येव सौरभं यस्य तत् । [**वारनारीकुचसञ्चितोपमं**] वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन, सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कारः । 'वारस्त्री गणिका

वेश्या' इत्यमरः । कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्यद्वारविशेषणं । पचेलिमं = स्वतः-पक्कं । 'कर्म कर्त्तरि केलिमच उपसंख्यानम्' इति पचेः केलिमच् प्रत्ययः । मालूरफलं = बिल्वफलं । 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरः श्रीफलावपि' इत्यमरः । स = नलो ददर्श ॥ ९४ ॥

नलने—हवा से हिलायी गयी बेलपत्ती की नोंक से क्षत (काम-मरुत् से चञ्चल हुए नख-पल्लव से क्षत) किया गया, चारो ओर चन्दन के समान उत्कृष्ट गन्ध फैलाता (विलिप्त चन्दन की सुरभि युक्त)—वाराङ्गना के स्तन के तुल्य—पका (बड़ा) हुआ बेल का फल देखा ॥ ९४ ॥

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियान्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः ॥९५॥

युवेति । [युवद्वयी-चित्त निमज्जनोचित-प्रसूनशून्येतर-गर्भगह्वरं] युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं, तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्निमज्जने ण्यन्ताल्लुट् । उचितैः क्षमैः, प्रसूनैः पुष्पबाणैः, शून्येतरदशून्यं पूर्णं, गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् । पाटलायाः = पाटलवृक्षस्य स्तबकं=कुसुमगुच्छं, भियाऽन्धया=भयमूढ्या, धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः । स्मरेषुधीकृत्य = कामतूणीकृत्य, तथा विभ्रम्य इत्यर्थः । अत एव भयात् स प्रकम्पितः = चकम्पे । अत्र पाटलस्तबके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारः । 'कविसम्मतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि । आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः' इति लक्षणात् ॥९५॥

काम–पीडा के भय के कारण, चकराई हुई बुद्धि से, पाटल के फूल के गुच्छे को—जिसका मध्यभाग युवक-युवतियों के हृदय में प्रवेश होने लायक पुष्परूपी काम-बाणों से परिपूर्ण था उसे—कामदेव का तरकस समझकर, नल काँप उठा॥९५॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनामन्यत सिंहिकासुतः ।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥९६॥

मुनीति । अमुना=नलेन वने कोरकितः=सञ्जातकोरकः, शितिद्युति =पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमः=अगस्त्यवृक्षः । [तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं] तमिस्रपक्षे शुक्लटेन क्षयव्याजेन, भक्षितम् , अभक्षितत्वे कुतः क्षय इति भावः । अत्र कूटशब्देन क्षयापह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभेदः । वैधवं=चन्द्रसम्बन्धि । 'विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुः' इत्यमरः । कलाकलापं=कलासमूहं वमन्=उद्गिरन् सिंहिकासुतः=राहुः, अमन्यत

किल = खलु । अत्र कोरकितेशितिद्युतित्वाभ्यां मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्करः ॥९६॥

नल ने उपवन में काले रंग की पत्ती वाले अगस्त्य वृक्ष को (कृष्णवर्ण दैत्य) राहु समझा । जिसमें (सफेद रंग की अर्द्धचन्द्राकार) कलियाँ खिली हुई थीं-- जो ऐसा प्रतीत होता था कि कृष्णपक्ष में छल से धीरे-धीरे निगले हुए विधु के कलासमूह को मानों (राहु) उगल रहा है ॥९६॥

पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेर्वीरुधि नद्धविभ्रमाः ।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषुकेलयः ॥९७॥

पुर इति । [**पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः**] पुरोऽग्रे, हठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा, तुषारेण हिमेन, पाण्डराणां छदानां पत्राणां, तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य च आवृतिरावरणं येन तस्य । **नभस्वतः** = वायोः, **वीरुधि** = लतायां । [**नद्धविभ्रमाः**] नद्धाः अनुबद्धाः, विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च यासां ताः । [**कुसुमेषुकेलयः**] कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः, कुसुमेषुकेलयः कामक्रीडाश्च **विलोकिताः** सत्यस्तं = नृपं नलं [**मिलन्निमीलं**] मिलन्निमीलो मिलनं यस्य तं **विदधुः**=निमीलिताक्षं चक्रुरित्यर्थः । विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् ; अन्यत्र 'नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसक्तमैथुनाम्' इति निषेधादिति भावः । अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुकविरहप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्करः ॥९७॥

पहले बरफ के सफेद रंग के पत्ते रूप आवरण (साड़ी) को हठपूर्वक (बलात्) हटाकर नभस्वान् (वायु, नवयुवक) ने लता (लतारूपी कृशाङ्गी नवयुवती) के भ्रमण (विभ्रमविलास = हाव भाव नखरे) पर अनुरक्त हो, कुसुमक्रीडा (कामकेलि) आरम्भ की--यह देख कर, नल ने अपने नेत्र मूँद लिये ॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ॥९८॥

गता इति । द्रुमाः, [**यदुत्सङ्गतले**] यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले, उपरि देशे अङ्कदेशे च । **विशालतां**=विवृद्धिं **गताः तां धात्रीं** = भुवञ्च उपमातरं वा । 'धात्री जनन्यामलके वसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः । 'धः कर्मणि ष्ट्रन्' इति दधातेष्ट्रन् प्रत्ययः । **फलगौरवेण** = फलानां गुरुत्वेन च हेतुना, **अतिमात्रं नामितैः** = प्रह्वी-

कृतैः, नमेर्मित्वविकल्पाद्ध्रस्वाभावः। **शिरोभिः** = अग्रैः, उत्तमाङ्गैश्च, **वन्दमानान्** = स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च, **तान्** = प्रकृतान् द्रुमान्, अत एव यच्छब्दानपेक्षा **स** = नलः **कथं नाभिनन्दति स्म** = अभिननन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिं, अपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥९८॥

वृक्ष लोग जिसके उत्सङ्गतल (ऊपर, गोद) में विशालता (वृद्धि) को प्राप्त होते हैं, उस धात्री (धरित्री, धाई) की, फल-गौरव (फलों की समृद्धि, सुकर्म) के कारण, बहुत नीचे झुके हुए अगले हिस्सों (शिरों) से, वन्दना करते हुए उन वृक्षों (कृतज्ञ पुत्रों) का, नल क्यों न अभिनन्दन करते ? ॥९८॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधाकृतं पुष्परसैरहर्महः।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः ॥९९॥

अत्रातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति—**नृपायेति**। **वनानिलैः**=उद्यानवातैः, हिमं शीतलं कृतं **हिमितं**। 'तत्करोति' इतिण्यन्तात् कर्मणि क्तः। **पुष्परसैः** = वनवातानीतैः मकरन्दैः, **सुधीकृतम्** = अमृतीकृतं तथा **केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं**=शुभ्रीकृतं। अह्नो महस्तेजः **अहर्महः**=आतपः। 'रोः सुपि' इति रेफादेशः। तदेव **कौमुदी** इति व्यस्तरूपकं। **वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः** = प्रमोदान् **नाधत्त** = न कृतवती। प्रत्युतोद्दीपकैवाभूदिति भावः ॥९९॥

उद्यान वायु से ठंढी, पुष्परस (मकरन्द) से सुधामय, केतकी के फूलों के पराग से सफेद बनी हुई—दिन की प्रभा तथा रात्रि की चाँदनी—उन वियोगी राजा नल को आनन्ददायक न हुई ॥९९॥

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम्।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताहूयत चन्द्रवैरिणी ॥१००॥

वियोगेति। **वियोगभाजोऽपि** = वियोगिनोऽपि **नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं** = प्रत्यक्षचन्द्रं **पश्यता** अत एव [**रोषारुणचक्षुषा**] रोषाद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा **पिकेन चन्द्रवैरिणी** [**कुहूरुता**] कुहूः= निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रममवास्येति श्लिष्टरूपकं। 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपि' इति विश्वः। **मुहुराहूयत** = आहूता, किमित्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसा-

पेक्षेति सङ्कर । अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात्, तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः ॥॥१००॥

साक्षात् चन्द्रमा के समान, वियोगी राजा नल के (अम्लान) मुख को देखकर, लाल-लाल आँखें निकाल कर कोयल ने—बार-बार 'कुहू' 'कुहू' की आवाज करके चन्द्रमा की वैरिन 'कुहू' (अमावस्या) को बुलाया ॥१००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान्।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥१०१॥

अशोकमिति । **एष**=नलः, पल्लवैः [**प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकं**] प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि, संच्छन्नानि, कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि क्षारकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं; पल्लवसंच्छन्नकुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः । अन्यथा, तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः। **अशोकम्**, अत एव [**अर्थान्वितनामताशया**] अर्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्नित्यन्वर्थसंज्ञा, तत्कृतया आशया; अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलाषेण । [**शरण्यं**] शरणे रक्षणे साधुं समर्थं शरण्यं, मत्वेति शेषः । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति विश्वः । 'तत्र साधु' इति यत्प्रत्ययः। **आगतान्**=शरणागतानित्यर्थः । गृहान् दारान् शोचन्तीति **गृहशोचिनः**=गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः । 'गृहः पत्न्यां गृहे स्मृतः' इति विश्वः । **अध्वगान्**=प्रोषितान् **अवन्तमिव**=शरणागतरक्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः । **अमन्यत**=ज्ञातवान् । अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणोपाय इति भावः ॥१०१॥

नल ने—पल्लवों (कर-पल्लवों) के रूप में, कामदेव के जलते हुए (प्रदीप्त कुसुम) अस्त्र-समूह ग्रहण करने वाले, अशोक पेड़ को—उसका नाम सार्थक होने की (अर्थात् अशोक के पास जाने से, हम वियोग के शोक से रहित हो जायंगे इस) आशा से शरण में आए हुए, घरनी की चिन्ता करने वाले बटोहियों का—रक्षक समझा ॥१०१॥

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमाराध तं क भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ॥१०२॥

विलासेति । [**विलासवापी-तट-वीचि-वादनात्**] विलासवापी विहारदीर्घिका, तस्यास्तटे वीचीनां वादनात्, [**पिकालिगीतेः**] पिकानामलीनाञ्च गीतेर्गानात्; [**शिखिलास्यलाघवात्**] शिखिनां मयूराणां, लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात्

च। **वनेऽपि तं**=नलं, तौर्य्यत्रिकं=नृत्यगीतवाद्यत्रयं, कर्त्तृ, **आरराध**=आराधयामास। तथा—हि **भाग्यभाक्**=भाग्यवान् जनः क [**भोगं**] भुज्यत इति भोगः सुखं तं, **नाप्नोति**=सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १०२ ॥

विहार क्रीडा की बावलियों ने अपने तीर की लहरों के शब्द (वादन) से, कोयलों और भ्रमरियों ने अपनी गीत (गायन) सुनाकर, तथा मोरों ने अपने लास्य (नृत्य) के सौन्दर्य से, उस वन में नाचने-गाने-बजाने वाले नल को आनन्द दिया। ठीक है, भाग्यशाली जन कहाँ नहीं सुख पाते ? ॥१०२॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन्।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥१०३॥

तदर्थमिति। **जनेन**=सेवकजनेन, **तदर्थं**=नलप्रीत्यर्थम्, **अध्याप्य**=स्तुतिं पाठयित्वा [**तद्वनं**] तस्मिन् वने, **विमुक्ताः**=विसृष्टाः **पटवः**=स्फुटगिरः **शुकास्त**=नलम्, **अस्तुवन् तथैव**=शुकवदेव; तदर्थमध्याप्य मुक्ताः। [**तत्पौरुषगायनीकृताः**] तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य, गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः, **शारिकाः**=शुकवध्वः **स्वरामृतेन**=मधुरस्वरेणेत्यर्थः, **उपजगुश्च** ॥१०३॥

जनता द्वारा नल की स्तुति के लिए सिखा-पढ़ाकर, उनके पराक्रम के गायन में निपुण, उस वन में (पिंजड़े से) छोड़े गये सुग्गे उनकी स्तुति करते थे। उसी प्रकार (जनता द्वारा नल की स्तुति के लिए०) छोड़ी गयी मैना अपने अमृत (मधुर) स्वर से उनकी प्रशंसा गान करती थीं ॥१०३॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥१०४॥

इतीति। **इति**=इत्थम् **इष्टगन्धाढ्यं**=इष्टसौगन्धसम्पन्नं **वनमटन्**। 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्म्मसंज्ञा ह्यकर्म्मणाम्' इति वनस्य देशत्वात् कर्म्मत्वं। **असौ**=नलः [**पिकोपगीतः**] पिकैः कोकिलैरुपगीतोऽपि, शुकैः स्तुतोऽपि च, परं केवलं। 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूतो केवले' इति विश्वः। **बहिरामोदभरं**=सौरभ्यातिरेकमेव **अविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण** हेतुना। **आन्तरम्**=आमोदभरम्, आनन्दातिरेकरूपं **नाविन्दत**=न लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः। 'आमोदो गन्धहर्षयोः' इति विश्वः ॥१०४॥

इस तरह अभीष्ट सुगन्ध से व्याप्त उपवन में, विचरण करते हुए नल ने—कोयलों से गाये जाने तथा सुग्गों से स्तुति किये जाने पर—(उपवनसौन्दर्य, फूल आदि देख-सूँघकर) बाह्यरूप से तो प्रमोद प्राप्त किया; पर विदर्भतनया दमयन्ती के विरह के कारण वे आभ्यन्तरिक (मानसिक) आनन्द न पा सके ॥१०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधत् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।
व्यतर्कि सर्वर्त्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥१०५॥

करेणेति । **स** = नलः, **निजकेतनं** = निजलाञ्छनं **मीनं** [**द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया**] द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया, **करेण दधत्** = तादृक्शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः । **सर्वर्त्तुघने** = सर्वर्त्तुसङ्कुले **अत्र** = अस्मिन् वने **मित्रं** = सखायं **मधुं** = वसन्तम् **अनुसरन्** = अन्विष्यन्, **स्मर इव व्यतर्कि** = तर्कितः । इत्युत्प्रेक्षा ॥१०५॥

पेड़ों के थाले के जल में मछली न चली जाय—इस शङ्का से अपने चिह्न-मत्स्य को हाथ में धारण करने वाले नल को लोगों ने, मत्स्यचिह्न धारी कामदेव समझा—जो सब ऋतुओं से परिपूर्ण उपवन में मानो अपने मित्र वसन्त को ढूँढ़ रहा हो ॥

लताबलालास्यकलागुरुस्तरु-प्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥१०६॥

लतेति । [**लताऽबला-लास्य-कला-गुरुः**] लता एवाऽबलास्तासां लास्यकलासु मधुरवृत्तविद्यासु, गुरुरुपदेष्टेति मान्द्योक्तिः । [**तरुप्रसून-गन्धोत्कर-पश्यतोहरः**] तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां, पश्यतो हरः पश्यन्तमनादृत्य हरः, प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः । 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इति हलायुधः, पचाद्यच् । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु' इति वक्तव्यादलुक् । एतेन सौरभ्यमुक्तं । [**मधु-गन्धवारिणि**] मधु मकरन्द एव, गन्धवारि गन्धोदकं, तत्र **प्रणीतलीलाप्लवनः** = कृतलीलावगाहनः, इति शैत्योक्तिः । ईदृग् **वनानिलोऽमुं**=नलम्, **असेवत** । गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः॥१०६॥

लतारूपी अबलाओं को नृत्य-कला सिखाने वाले, पेड़ों के फूल के सुगन्धि-समूह को नज़रों के सामने चुराने वाले, फूलों के रस (मकरन्द) के गन्धयुक्त जलाशय में लीलापूर्वक विहार करने वाले—उपवन-पवन ने, नल की सेवाशुश्रूषा की ॥१०६॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्नवसन्नपां निधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

अथेति । अथ = वनालोकनानन्तरं **मन्थनाद्भयेन** = धनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थः । **चिरादुच्चितं** = सञ्चितं **चिरत्नरत्नाधिकं** चिरत्नं चिरन्तनं । 'चिर-मरुत्त्ववादिभ्यस्त्रा वक्तव्यः' इति त्नप्रत्ययः । तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं । 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः । **स्वं** = धनमादाय **तस्मिन् वने निलीय** = अन्तर्धाय निवसन् वर्त्तमानोऽपांनिधिरिव इत्युत्प्रेक्षा । तेन नलेन **तडागः** = सरोविशेषोऽवनीभुजा = राज्ञा **ददृशे** = दृष्टः ॥१०७॥

इसके बाद नरपति नल ने तालाब देखा—जो ऐसा प्रतीत होता था मानों चिरकाल से सञ्चित किए हुए प्राचीन (ऐरावत आदि) रत्नों से युक्त अपनी विशाल सम्पत्ति को (देवताओं द्वारा, लुटेरे शासकों द्वारा) मन्थन के भय से अपने भीतर छिपाए हुए, जलनिधि (सागर) ही उस उपवन में छिपकर निवास करता हो ॥

पयोनिलीनाभ्रमुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद्बभार यः ॥१०८॥

तदुक्तं धनमादायेति तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः—**पय इत्यादिभिः** । यः = तडागः, जलेनार्द्धरुद्धस्य **[जलार्द्धरुद्धस्य]** अर्द्धछन्नस्य, **तटान्तभूमिदः** = तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः । **मृडालजालस्य** = बिसवृन्दस्य **निभाद्** = व्याजाद् इत्यपह्नवालङ्कारः । 'निभो व्याजसदृक्षयोः' इति विश्वः । **[अनन्तोरगपुच्छ-सच्छवीन्]** अनन्तोरगस्य शेषाहेः पुच्छेन सच्छवीन्, तद्वद्धवलानित्यर्थः । **[पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकाऽवली-रदान्]** पयोनिलीनानाम्, अभ्रमुकामुकाव-लीनाम्, ऐरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् । **बभार** । तत्रैक एवैरावतः, अत्र त्वसंख्या इति व्यतिरेकः । अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत् । 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् । 'लषपते'इत्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः ॥१०८॥

वह तालाब (आधे जल के भीतर और आधे जल के ऊपर, इस प्रकार) आँधे ढँके हुए, किनारे की जगह को फोड़कर निकले हुए (तीर समीप स्थल को तोड़नेवाले), कमल—नाल के बहाने—मानों शेषनाग की पूँछ के समान छविवाले, जल में डूबे हुए अभ्रमु हथिनियों के कामुक पतियों (अर्थात् ऐरावत हाथियों) के झुण्ड के दाँतों को—धारण करता था ॥१०८॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा-स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

तटान्तेति। **यः** = तडागः [**तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन**] तटान्ते तीरप्रान्ते, विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी, तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या निमित्तेन च, एकैकशस्तासां [**वीचिकशान्तशातनैः**] वीचीनामन्तःशातनैः उग्रताडनैः। 'अश्वादेस्ताडनी कशा'इत्यमरः। **चलद्** = उल्लसद् **उच्चैःश्रवसां सहस्र श्रयन्** = प्राप्नुवन्निव बभौ। इत्युत्प्रेक्षा व्यतिरेकश्च पूर्ववत्। एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥१०९॥

किनारे पर विश्राम करनेवाले नल के घोड़ों की झुण्ड के स्पष्ट प्रतिबिम्ब के चुम्बन के बहाने, मानों लहररूपी चाबुक की छोर से ताड़ना होने पर, चञ्चल होते हुए हजारों उच्चैःश्रवा को धारण कर रहा हो—इस प्रकार वह तालाब सुशोभित हो रहा था ॥१०९॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद्बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम्।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहुलं वहन् बहु ॥११०॥

सितेति। **यः** = तडागः [**अलिश्यामलितोदरश्रियां**] अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यामीकृतमध्यशोभानां, **सिताम्बुजानां** = पुण्डरीकाणां **निवहस्य छलात्** [**तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुल**] तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहुलं सम्पूर्णं **बहु** = अनेकं **सुधांशोः** = चन्द्रस्य, **कुलं** = वंशं, **वहन् सन् बभौ**। अत्र च्छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥११०॥

जो तालाब भौंरों के कारण जिनके मध्यभाग काले दिखाई पड़ते थे—ऐसे खिले हुए (चन्द्रमा के समान गोल आकारवाले) सफेद कमलों के समूह के बहाने मानों अन्धकारतुल्य (कृष्णवर्ण) कान्ति के समान कलङ्क (मृगलाञ्छन) से व्याप्त, असंख्य चन्द्रमा के समूह को धारणकर रहा हो—ऐसा सुशोभित हो रहा था ॥११०॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् मृणालशेषाहिभुवानुवयायि यः ॥१११॥

रथाङ्गेति। **यः** = तडागः [**रथाङ्गभाजा**] रथाङ्गं चक्रवाकः, चक्रायुधश्च।

यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः, तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्यायत्व-प्रयोगदर्शनात् पदस्याप्युभयत्र प्रयोगं मन्यते कविः। तद्वाजा। भजो ण्विः, [कमलानुषङ्गिणा] कमलैः कमलया च, अनुषङ्गिणा संसर्गवता, **शिलीमुखस्तोमसखेन** = अलिकुलसहचरेण; अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः, तत्सवर्णेनेत्यर्थः। [मृणालशेषाहिभुवा] मृणालं शेषाहिरिवेत्युपमितसमासः। तद्भुवा तदाकारेण; अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण, **शार्ङ्गिणा** = विष्णुना [सरोजिनी-स्तम्बकदम्बकैतवात्] सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः। 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मम्' इत्यमरः। तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात्, **अन्वयायि** = अनुयातोऽनुसृतोऽधिष्ठित इति यावत्। अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वपमह्नुत्य शार्ङ्गित्वारोपादपह्नवभेदः॥ १११॥

जिस प्रकार शार्ङ्गधनुषधारी सुदर्शनचक्रधारी, कमला (लक्ष्मी) के साथ रहनेवाले, भौंरें की तरह कृष्णवर्णवाले विष्णुभगवान् मृणाल के सदृश शेषनाग-शय्या पर शयन करते हैं उसी प्रकार वह तालाब भी था क्योंकि उसमें चकवे, कमल और भौंरें थे। इस प्रकार कमलिनी की झाड़ियों के समूह के बहाने, वह तालाब मृणालरूप शेषनाग का उत्पत्तिस्थल था॥१११॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा बिभराम्बभूव यः।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः॥११२॥

तरङ्गिणीरिति। **यः** = तडागोऽ**ङ्कजुषः** = अन्तिकभाजः, उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च ता। **तरङ्गलेखाः** = तरङ्गराजिरेव **स्ववल्लभाः** = तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपकं **बिभराम्बभूव** = बभार। 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इति भृञो विकल्पादाम् प्रत्ययः। किञ्च **यः** = तडागो **दरोद्गतैः** = इषद्बुद्धैः **कोकनदौघकोरकैः** = रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः, **धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च** = धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति। अत्रापि कोकनद-कोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः॥११२॥

वह तालाब अपनी गोद में अठखेली करती हुई तरंग रूपी कामिनी से युक्त होकर और अधखिली लालकमलों की कलियों से व्याप्त होकर, ऐसा सुशोभित हो रहा था—जैसे अपने उत्संग में शयन करनेवाली प्रियतमा नदियों से युक्त हो और मूँगे के अङ्कुर समूह को धारण कर, समुद्र हो॥११२॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च।

नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥११३॥

महीयस इति । यः = तडागः **महीयसः** = महत्तरस्य, **गौरस्य च, मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य** = सितासितसरोजयोश्छलेन **सलिले निलीनयोः विधु-कालकूटयोः**, सितासितयोरिति भावः । **त्विषं विमुञ्चन्**=विसृजन्निव **नलेन मेने** । अत्रच्छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥११३॥

वह तालाब (रूप सागर)बहुत से सफेद तथा नीले कमल के बहाने, जल में विलीन चन्द्रमा तथा काल-कूट विष की (श्वेत तथा कृष्ण) द्युति को, जल के ऊपर उछाल रहा है—ऐसा नल ने अनुमान किया ॥११३॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडव-स्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥११४॥

चलीकृता इति । **यत्र** = यस्मिन् तडागे, **तरङ्गरिङ्गणैः** = तरङ्गकम्पनैः **चलीकृताः** चञ्चलीकृताः [**अबाल-शैवाललता-परम्पराः**] अबालानां कठोराणां, शैवाल्लतानां परम्पराः पंक्तयः [**वाडव-हव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तम-भूम-धूमतां**] हव्यं वहतीति हव्यवाडग्निः । 'वहश्च'इति ण्विप्रत्ययः । तस्य छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रयोगः । वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्यान्तरवस्थानेन, प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो भूमा येषां ते च ते धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता दधुः ; वहिरुत्थितधूमपटलवद्बभुरित्यर्थः । **ध्रुवम्** इत्युत्प्रेक्षायाम् ॥११४॥

उस तालाब (रूप सागर) में लहरों के कम्पन से चलायमान किये गये, कठोर सेवार-लताओं के समूह—ऐसे प्रतीत होते थे मानो वडवानल के निवास से, खूब धूम-बाहुल्य उठ रहा हो ॥११४॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बितामोदभरं विवृण्वती ।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता ॥११५॥

प्रकाममिति । **आदित्यं** = सूर्यम् । **अवाप्य प्रकामं कण्टकैः** = नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः, **करम्बिता** = दन्तुरिता ; अन्यत्राऽऽदित्यम् अदितिपुत्रमिन्द्रम् अवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता । अत एव **आमोदभरं** = परिमलसम्पदम्, आनन्दसम्पदं च, **विवृण्वती** = प्रकटयन्ती **दिवा** = दिवसे [**धृत-स्फुटश्रीगृह-विग्रहा**] धृतानि स्फुटानि श्रीगृहाणि पद्मानि, यैः ते विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा ; अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं, विग्रहो देहो यस्याः सा ; स्वर्गलोक-

वासिनीत्यर्थः । [यत्प्रभवा] यस्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा, तज्जन्या । सरोजिनी = पद्मिनी अप्सरायिता = अप्सर इवाचरिता । उपमानात् 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति कर्त्तरि क्तः । ओजसोऽप्सरसोरित्यप्सरसः सकारलोपः, श्लिष्ट-विशेषणेयमुपमा ॥११५॥

आदित्य (सूर्य, अदितिपुत्र इन्द्र) को पाकर, खूब कण्टकों (कमल नालगत तीक्ष्णाग्र, पुलकावली) से करम्बित (सुशोभित, रोमाञ्चित) हो, आमोद-भर (परिमल सम्पत्, आनन्दसम्पत्) को प्रकट करती हुई, दिवस (दिन, स्वर्ग) में स्फुट श्रीगृह (विकसित कमला-लक्ष्मी-निवास) शरीरवाली हो, उस तालाब (रूपी सागर) में उत्पन्न हुई कमलिनी—अप्सरा के समान मालूम हुई ॥११५॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षौ न् धुवतः सपक्षताम् ॥११६॥

यदिति । [यदम्बुपूर-प्रतिबिम्बितायतिः] यस्य तडागस्याम्बुपूरे, प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः, **मरुत्तरङ्गैः** = वातवीजनैस्**तरलः** = चञ्चलः **तटद्रुमः** निमज्य **सतः** = वर्त्तमानस्य, **पक्षौ न् धुवतः** = कम्पयतो **मैनाकमहीभृतः** = तदाख्यस्य पर्वतस्य, **सपक्षतां** = साम्यं, पक्षवत्ताञ्च **ततान** इत्युपमा ॥११६॥

जिस (तालाब रूपी सागर) की जलराशि में प्रतिम्बिम्बित तीर पर का लम्बा पेड़—पवन के झकोरों से चलायमान की गयी लहरों से चञ्चल हो—ऐसा मालूम पड़ता था, मानों भीतर घुस कर, अपने पंखों को कँपाता हुआ मैनाक पर्वत हो ॥११६॥

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥११७॥

पयोधीति । अथ **स नैषधः** = निषधानां राजा नलः । जनपदशब्दात् क्षत्रियादञित्यञ् । **पयोधिलक्ष्मीमुषि** = तत्सदृश इत्यर्थः । तत्र **केलिपल्वले** = क्रीडासरसि, [**रिरंसु-हंसी-कलनाद-सादरम्**] रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां, हंसीनां कलनादेषु मधुरस्वरेषु सादरं सस्पृहं **तत्रान्तिके** = तत्समीपे **विचरन्तं चित्रम्** = अद्भुतं, **हिरण्मयं** = सुवर्णमयं । दाण्डिनायनादिना निपातनात् साधुः । **हंसम्**, **अबोधि** = ददर्शेत्यर्थः । 'दीपजन' इत्यादिना कर्त्तरि चिण् ॥११७॥

निषधाधिपति नल ने—समुद्र की शोभा को मात करनेवाले, क्रीड़ा-सरोवर के

पास विचरण करते हुए, एक विचित्र सुनहले राजहंस को देखा, जो विहाराभिलाषिणी हंसिनी के अस्फुट मधुरस्वर पर लवलीन हो, रति की कामना कर रहा था।

प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च विभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥११८॥

पुनस्तमेव विशिनष्टि—**प्रियास्विति** । **बालासु**=अरतिक्षमासु, किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः । अन्यथा, रागाङ्कुरासम्भवात् ; **रतिक्षमासु**=युवतीषु द्विविधासु **प्रियासु** विषये क्रमात् **चञ्च्वोः**=त्रोट्योः । 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियाम्' इत्यमरः। **चरणद्वयस्य च मिषेण, द्विपत्रितं**=सञ्जातद्विपत्रं, **पल्लवितं**=संजातपल्लवञ्च, चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्यात् द्विपत्रित्वं । चरणयोस्तु विभ्रमरागमत्त्वेन पल्लवसाम्यात् पल्लवत्वं, राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तम् । **स्मरार्जित**=स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव महीरुहः, तस्याङ्कुरं **रागमहीरुहाङ्कुरं, बिभ्रतं,** चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं, चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रतमित्यर्थः । ईदृशं हंसमद्राक्षीदिति पूर्वेणान्वयः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुम्प्रतिषेधः । वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम् । तत्र रागं बिभ्रत इति हंसविशेषणात्, तद्द्वारागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरणभूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयं अन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरणत्वायोगात् । न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतरपर्यायस्य तथात्वायोगात्, अन्यथा बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरोधात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च । उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित् । तस्मात् कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधिकरणत्वमेवमिति सिद्धान्तः । प्रियास्विति विषयसप्तमी न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम् । अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं, चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः । तेन च बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्त्थापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्यैव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥११८॥

(वह राजहंस) बाला (मुग्धा) और रमणयोग्य युवती प्रियतमा हंसी के लिए, अपनी (रक्त) चोंच और (रक्त) युगल चरण के बहाने, क्रमशः कामदेव से उत्पादित अनुरागरूपी वृक्ष के दो अंकुरित शाखाएँ और दो पल्लव धारण करता था। (अर्थात् वह राजहंस कामदेव का क्रीडावृक्ष था। जिस के नव अंकुरित

की पत्र रूपी चोंच उसकी वाली प्रियतमा के चुम्बन के लिए और जिस के नव अंकुरित पल्लव रूपी युगल रक्त चरण उस की सम्भोग-योग्या प्रेयसी के आलिङ्गन करने के लिए समर्थ थे) ॥ ११८ ॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम् ।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥११९॥

महीति । महीमहेन्द्रः=भूदेवेन्द्रः, सः=नलः, [एकान्तमनोविनोदिनम्] एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयतीति तथोक्तं । तं शकुन्तं = पक्षिणं, क्षणम् अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरम्=अतिमात्रं विधुरः = दुःस्थोऽपि मनाक् = ईषत् कुतूहलाक्रान्तमनाः = कौतुकितचित्तोऽभूत् = गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः ॥११६॥

अत्यन्त विनोद देनेवाले, उस हंसपक्षी को क्षणभर देख कर, दमयन्ती के वियोग से अत्यन्त दुःखी होने पर भी, राजा नल के मन में (उसे पकड़ने का) कुछ-कुछ कुतूहल पैदा हुआ ॥११६॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥१२०॥

कथमीदृशे चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य, नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं; किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह--अवश्येति । अवश्यभव्येषु अवश्यं भाव्यर्थेषु विषये । 'भव्यगेय'आदिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः 'लुपेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः । अनवग्रहग्रहा = अप्रतिबन्धानिर्बन्धा, निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत् । 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमः' इति विश्वः । वेधसः स्पृहा = विधातुरिच्छा, यया दिशा धावति=येनाध्वना प्रवर्त्तते तया एव दिशा, भृशावशात्मना = अत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन, जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव । पाशादिभ्यो यः । अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा कर्म ॥१२०॥

जो अवश्य होनेवाला है, उसके पीछे--बिना बाधा के जानेवाली (अङ्कुशहीन) विधाता की इच्छा--जिस दिशा में जाती है, उसी दिशा में लोगों के अत्यन्त बेबस चित्त इस प्रकार जाते हैं, जैसे जिधर आँधी जाती है, उसी ओर तिनका उड़ कर जाता है ॥१२०॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः ।
स तिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्रमालसः ॥१२१॥

चिकीर्षितार्थं दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति—**अथेति** । **अथ**=नलदृष्टिप्राप्त्यनन्तरं, **रतिक्लमालसः सः**=खगो हंसः, **तदा**=नलकुतूहलकालक्षणम्, एकपादो यस्यां क्रियायामित्येकपादिका, एकपादेनावस्थानं । मत्वर्थीयष्ठन् प्रत्ययः 'तद्धितार्थ'इत्यादिना सङ्ख्यासमासः, 'यस्य इति'लोपस्य स्थानिवद्भावेन ताद्रूप्याभावन्न पादः पदादेशः, ताम् **एकपादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः**=आवर्त्तितग्रीवः सन् **पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं**=पल्वले **क्षणं निदद्रौ**=सुस्वाप । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्'इति लक्षणात् ॥१२१॥

नल की नज़र पड़ने के बाद सुरत-जन्य खेद के कारण सुस्त हो, वह राजहंस उसी समय, पंखों से शिर ढँककर, गर्दन टेढ़ी झुकाकर और एक पञ्जे का सहारा लेकर, क्षणभर में सो गया ॥१२१॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रियानतं, काञ्चनमम्बुजन्म किम् ?
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम् ? ॥१२२॥

सनालमिति । स नलः, तं=निद्राणं हंसम् [**आत्माननिर्जितप्रभं**] आत्मानेन निर्जितप्रभं निजमुखनिराकृतशोभम्; अत एव **ह्रियानतं सनालं**=नालसहितं, **काञ्चनं**=सौवर्णम् **अम्बुजन्म**=अम्बुजं **किम्** ? तथा, [**विद्रुमदण्डमण्डितं**] विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं, **पीतं**=पीतवर्णम् [**अम्भःप्रभुचामरञ्च**] अम्भःप्रभोः अपांपत्युः वरुणस्य, चामरं **किम्** ? इतिशब्दोऽत्राहार्यः । इति **अबुद्ध**=बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । बुध्यतेर्लुङि तङः 'झषस्तथोर्धोऽधः'इति तकारस्य धकारः ॥१२२॥

क्या यह (एक पञ्जे के सहारे) डण्ठलसहित सोने का कमल है—जो (मेरी मुखकान्ति से) अपने को विजित समझकर, लज्जा के मारे मुँह लटका कर, एक ओर पड़ गया है ? अथवा—क्या यादसां पति वरुण का—(लाल पंजा होने के कारण) मूँगे के डण्डे से अलंकृत, पीले रंग का—चँवर है ? नल ने राजहंस के बारे में इस तरह अनुमान किया ॥१२२॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥१२३॥

कृतेति । **ततः**=तन्निदर्शनानन्तरं, **हयात्**=अश्वात् **कृतावरोहस्य**=कृतावतरणस्य **अस्य**=नलस्य **उपानहौ**=वर्मणी पादत्राणे । 'पादत्राणे उपानहौ इत्यमरः ।

भ्रती = बिभ्राणे, पद् = चरणं तथा वनयोः = सलिलकाननयोः । 'वनं सलिल-
ानने' इत्यमरः । प्रवालैः = पल्लवैः तथाम्बुजैः = पद्मैश्च सहेत्यर्थः । सहार्थे
तीया । नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे = युद्धकाम इत्यर्थः ।
ुं काममनसोरपि' इति तुमुनो मकारलोपः । अतो बद्धवर्मणी किमु = बद्धकवचे
व ते रेजतुः किम् इत्युत्प्रेक्षा ॥१२३॥

तब घोड़े पर से उतरे हुए नल के जूते पहने हुए पैर—ऐसे शोभित हुए
ानों वे—उस उपवन के पल्लवों और जल के कमलों के साथ युद्ध करने की
अभिलाषा से, कवच पहन कर, वहाँ आये हों ॥१२३॥

विधाय मूर्त्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥१२४॥

विधायेति । अयं नृपः स्वयमेव कपटेन = छद्मना वामनीं = ह्रस्वां ।
गौरादित्वात् ङीप् । बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः ।
मूर्त्तिं विधाय = कायं सङ्कुच्येत्यर्थः । मौनिना = निःशब्देन चरणेन, उपेतपार्श्वः =
प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं = पक्षिणं समधत्त = सन्धृतवान्, जग्राहेत्यर्थः ।
स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥१२४॥

राजा नल कपट (छल) से बलि के छलने वाले (वामन भगवान्) के अनुरूप
अपनी वामनी मूर्ति (शरीर को झुकाकर, छोटा आकार) बनाकर, चुपचाप दबे
पाँव से उसके पास जाकर, उसे अपने हाथ से पकड़ लिया ॥१२४॥

तदात्तमात्मानमवेत्य सम्भ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥१२५॥

तदिति । स = हंसः आत्मानं तदा तु [तदात्तं] तेन नलेनात्तं गृहीतम्
अवेत्य = ज्ञात्वा, सम्भ्रमाद् उत्प्लवाय = उत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसत् = आय-
स्तवान् । 'यसुप्रयत्ने' इति धातोर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । उड्डयने = उत्पतने
निराशतां गतो विरुत्य = विक्रुश्य निरोद्धुः = गृहीतुः, करौ केवलं = करावेव
दशति स्म = दष्टवान् । अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥१२५॥

जब उस राजहंस ने अपने को उन नल के द्वारा पकड़ा हुआ जाना तो डर
के मारे घबड़ाकर उड़ जाने की बार-बार चेष्टा की । लेकिन उड़ने में बेबस हो,
विशेष प्रकार से शब्द करके, वह केवल पकड़नेवाले के दोनों हाथों को काटने लगा ॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयानुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥१२६॥

स इति । [ससम्भ्रमोत्पातित-पतत्कुलाकुलं] ससम्भ्रमं सत्वरम्, उत्पातिना उड्डीयमानेन, पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेन, आकुलं सङ्कुलं, सरः कर्तृ । **उत्कतया** = उन्मनस्तया । 'उत्क उन्मनाः' इति निपातनादिविधानाच्च साधुः । **अनुकम्पितां** प्रपद्य = कृपालुतां प्राप्य, तं **नृपम्**, **ऊर्मिलोलैः** = चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकं । **पतगग्रहात्** = पक्षिग्रहात्, **न्यवारयत् इव** इत्युत्प्रेक्षा; वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा । निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम् । अत एवैवं शब्दस्य उपमाबाधेनार्थानुसाराद्व्यवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकत्वमिति रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥१२६॥

(उधर) डर के मारे हड़बड़ी में उड़ते हुए पक्षियों के समूह से अस्थिर हुए सरोवर ने—मानो (पक्षियों के पंखों से कुछ-कुछ उठा हुआ जल वाला अर्थात्) उन्मना हो, हंस पर करुणा करके, लहरों से चञ्चल हुए, कमलरूपी करों द्वारा, राजा नल को हंस के पकड़ने से मना किया—ऐसा प्रतीत होता था ॥१२६॥

पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥१२७॥

पतत्रिणेति । **रुचिरेण पतत्रिणा**=हंसेन, **वञ्चितं** = विरहितं **तत्पल्वलं** = सरः **प्रविहाय**, **प्रयान्त्याः** = गच्छन्त्याः **श्रियः** = लक्ष्म्याः, **[चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा]** चलद्भ्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम्, उपमा साम्यं, यस्याः सा, **कलहंसमण्डली कूले चुकूज** । स्वयूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावः । तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्या सरःशोभायाः, श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते । उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम् ॥१२७॥

सुन्दर राजहंस से विहीन उस सरोवर को परित्यागकर, जाती हुई सुन्दर हंसमण्डली ने किनारे पर, ऐसा मधुर गुञ्जन किया, मानो प्रस्थान करती हुई सरोवरसौन्दर्य-श्री के चञ्चल चरण-कमलों के पाजेब की छमाछम की आवाज़ हो ॥१२७॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥१२८॥

नेति । इयं वसुधा वासयोग्या = निवासार्हा न । कुतः ? अंग = भो !

यस्याः = वसुधायाः, उज्झितस्थितिः = त्यक्तमर्य्यादः, ईदृशः=अनपराधपक्षि-घातकः त्वं पतिः=पालकः, इति=इत्थं खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं = नलम् आरवैः = उच्चध्वनिभिः, आचुक्रुशुः खलु = उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरिव, इत्युत्प्रेक्षा गम्या ॥१२८॥

धरती को छोड़कर. आकाश में जाते हुए, पक्षिगण मानो अपने शब्दों से नल की निन्दा कर रहे थे कि—शिव शिव ! तुम्हारे जैसे मर्यादा का परित्याग करने वाले व्यक्ति, जिसके अधिपति हों, वह वसुन्धरा अब हम लोगों के बसने योग्य नहीं है ॥१२८॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः ।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

नेति । इयम् = ईदृक्, [जातरूपच्छदजातरूपता] जातरूपच्छदैः सुवर्ण-पक्षैः, जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्यत्वं, **द्विजस्य** = पक्षिणः, **न दृष्टा**=हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः । **इति मुहुः स्तुवन्, स जनाधिनाथः**, **अथ**=अस्मिन्नन्तरे **करपञ्जरस्पृशा**=करतलगतेन । मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः, **तेन मानसौकसा** = हंसेन । 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः । **अवादि** = उक्तः । वदेः कर्म्मणि लुङ् ॥१२९॥

'ऐसा सोने के पंखों से उत्पन्न सौन्दर्य किसी पक्षी में आज तक कहीं नहीं देखा'—इस प्रकार बार-बार प्रशंसा करनेवाले राजा नल से—हाथ रूपी पिंजड़े में फँसे हुए, उस मानसरोवर निवासी राजहंस ने—कहा ॥१२९॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥१३०॥

तदेव चतुर्भिराह—**धिगित्यादि** । हेम्नो जन्म येषां तान् **हेमजन्मनः** = हैमान्, **मम पक्षान्** = पत्राणि **समीक्ष्य तृष्णातरलम्**=आशावशगं **भवन्मनो धिगस्तु** इति निन्दा । 'धिङ्निर्भर्त्सन-निन्दयोः' इत्यमरः । 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिषु' इति द्वितीया । धिग्योगात् मन इति द्वितीया । **तुषारशीकरैः** = हिमकिरणैः, **अर्णवस्य इव, तव अमीभिः** = एभिः पक्षैः **कियान् [कमलोदयः]** कमलाया लक्ष्म्याः, कमलस्य जलस्य च, उदयो वृद्धिः, **भवेत्?** न कियानपीत्यर्थः ॥१३०॥

(राजन् !) सोने के बने हुए, मेरे पङ्खों को देखकर, तृष्णा से चपल हुए,

आपके (लोभाविष्ट) चित्त को धिक्कार है। जैसे बरफ के टुकड़े (बनौरी गिरने) से, सागर के जल की वृद्धि नहीं होती, उसी तरह इन कतिपय (चन्द सोने के पङ्खों) से आपकी राजलक्ष्मी की कितनी वृद्धि होगी ? ॥१३०॥

न केवलं प्राणिबधो बधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥१३१॥

नेति । हे नृप ! **त्वदीक्षणात्**=त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव, **विश्वसितान्तरात्मनः** = विस्रब्धचित्तस्य, विश्वस्तस्येत्यर्थः । **मम बधः केवलं प्राणिमात्रबधो न**, किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः । ततः किमत आह–**विश्वासजुषां** = विस्रम्भभाजां **द्विषामपि निबर्हणं** = हिंसनं **धर्मधनैः** = धर्मपरैः मन्वादिभिः, **विशिष्य** = अतिरिच्य **विगर्हितम्** = अत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ॥१३१॥

आपके दर्शन से, मेरे अन्तःकरण में विश्वास उत्पन्न हो गया था (इसी से मैं विश्वस्त हो, सो गया था; इस बीच आपने मुझे पकड़ लिया) अतः मुझ जैसे (निश्छल तथा विश्वास करने वाले साधारण) जीव के बध करने से, न केवल आपको प्राणिबध का पाप लगेगा, बल्कि विश्वासघात का भी पाप लगेगा; क्योंकि धर्मरूपी धन वाले (धर्मपरायण मनु आदि) महर्षियों ने (मित्रों की कौन कहे ?) विश्वास करके आये हुए शत्रुओं के बध करने की भी विशेष रूप से (घोर) निन्दा की है ॥१३१॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ?
धिगीदृशं ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥१३२॥

पदे पद इति । **रणोद्भटाः**=रणेषु प्रचण्डाः, **भटाः**=योधाः, **पदे पदे सन्ति**= सर्वत्र सन्तीत्यर्थः । वीप्सायां द्विर्भावः । **एषः हिंसारसः** = हिंसारागः **तेषु** = भटेषु **न पूर्यते** । अत्र काकुः—न पूर्यते किमित्यर्थः ? । **नृपतेः** = महाराजस्य **ते** = तव **ईदृशम्**=अवध्यवधरूपं **कुविक्रमं**=कुत्सितपराक्रमं **धिक् यः**=कुविक्रमः **कृपाश्रये**= कृपाविषये अनुकम्पनीये **कृपणे** = दीने **पतत्रिणि** क्रियत इति शेषः ॥१३२॥

पग-पग पर (सर्वत्र) रण-मत्त योद्धा भरे पड़े हैं। क्या उनसे आपके हिंसा-रस (हत्या-प्रेम) की पूर्ति नहीं होती ? महाराज के इस प्रकार के (अवध्यरूप) कु-पराक्रम को धिक्कार है—जो मुझ जैसे दीन तथा कृपापात्र पक्षी पर अपनी शूरता प्रकट कर रहे हैं ! ॥१३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ? ॥१३३॥

फलेति । यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां = जलरुहां पद्मादीनाम् ; अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च, फलेन मूलेन च इत्थम् = अनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयः = जीविकाः, तस्मिन् अपि = अनपराधेऽपीति भावः । दण्डधारिणा = दण्डकारिणा, अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थः । पत्या त्वया हेतुना । अद्य धरणी कथं न हृणीयते = जुगुप्सत एवेत्यर्थः । हृणीयतेः कण्ड्वादियगन्ताल्लट् । तत्र हृणीङिति ङित्करणादात्मनेपदम् । अकार्यकारिणं भर्त्तारमपि गर्हन्ते स्त्रिय इति भावः ॥१३३॥

कन्द-मूल, फल, कमल-नाल आदि को खा करके, मुनियों के समान जीवन-निर्वाह करनेवाले, मुझ सरीखे जीवों की—आप जैसे (पृथ्वी-पति) व्यक्ति हिंसा करते हैं तो उन दण्डधारी 'पति' पर मेरी 'माता' धरती क्यों नहीं घृणा करती ? ॥

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः ।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥१३४॥

इतीति । इति = इत्थं, स खगः = हंसः, तं नृपम्, ईदृशैः = दोषालम्भैरित्यर्थः । वाङ्मयैः = वाग्विकारैः । 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति' इति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः । पक्षिकथनात् चित्रं, परैः स्वकार्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्त्तिदर्शने तन्निवर्त्तनेच्छा या कृपा, ताभिः सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य = विधाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । दयासमुद्रे तदाशये = तच्चित्ते कारुण्यरसापगाः = करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार = प्रवेशयामासेत्यर्थः । समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः । रूपकालङ्कारः ॥१३४॥

इस तरह के (धिक्कारयुक्त) कथन से, राजहंस ने राजा नल को चकित, लज्जित और कृपालु बनाने के बाद, उनके दया-समुद्ररूपी हृदय में—अपनी करुणा-रसमयी नदी रूपी (वक्ष्यमाण करुणरस-व्यञ्जक) वाणी को—अतिथि बनाकर, प्रवेश करा दिया ॥१३४॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो ॥१३५॥

तावद्गिरः प्रपञ्चयति—मदित्यादिना । तत्र तावद्दैवमुपालभते हे विधे ! जननी = माता, अहमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा, मम नाशे तस्या गत्यन्तरं

नास्तीत्यर्थः । **जरातुरा** = स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, **वरटा** = स्वभार्य्या । 'हंसस्य योषिद्वरटा' इत्यमरः । **नवप्रसूतिः** = अचिरप्रसवा, **तपस्विनी** = शोच्या **एष जनः** = स्वयमित्यर्थः । **तयोः** = जाया-जनन्योः **गतिः** = शरणं **तं** = जनं, मामित्यर्थः । **अर्दयन्**=पीडयन् **अहो विधे !** = विधातः ! **त्वां करुणा न रुणद्धि**=मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः । न रुणद्धि किमित्यर्थः ? ॥१३५॥

वृद्धावस्था के कारण पीडित, अपनी जननी का मैं ही एकमात्र पुत्र हूँ, मेरी हंसिनी--पत्नी-अभी हाल में ही प्रसूता हुई है और उसकी दशा भी अच्छी नहीं है । यही जन (अर्थात् अकेला मैं) ही उन दोनों का अवलम्ब है । ऐसी परिस्थिति में मुझे बे-मौत मारते (कष्ट पहुँचाते) हुए, हे विधाता ! क्या तुझे करुणा नहीं आती ? ॥ १३५ ॥

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥१३६॥

अथ मातरं शोचयति—**मुहूर्त्तेति** । हे **मातः ! मम सखायः** = सुहृदो **दयासखाः** = सदयाः अत एव **स्रवदश्रवः** सन्तः । अश्रु नेत्राम्बु । 'रोदनं चास्रमश्रु च' इत्यमरः । **मुहूर्तमात्रं** = क्षणमात्रं **भवनिन्दया** = संसारगर्हणेन **निवृत्तिं**= शोकोपरतिम् , **एष्यन्ति**, किन्तु **त्वयैव** [**सुतशोकसागरः**] सुतशोक एव सागरः **परम्** = अत्यन्तः, दुखेनोत्तीर्य्यत इति **दुरुत्तरः** = दुस्तरः । तरतेः कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः ॥ १३६ ॥

मेरे (लँगोटिया यार) दयालु मित्र (क्षणभङ्गुर) संसार की निन्दा करके और आँसू बहा करके, क्षणभर के बाद अपने कष्ट को भूल जायँगे; पर हे माता ! एकमात्र आपके लिए, पुत्र-शोकरूपी सागर को, पार करना कठिन होगा ॥१३६॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥१३७॥

अथ भार्य्यामुद्दिश्य विलपति—**मदर्थेत्यादिना** । हे **प्रिये** ! [**मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः**] मह्यमिमे मदर्थे । 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या ।' तयोः सन्देशमृणालयोः वाचिकबिसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः **प्रियः कियद्दूरे** = कियति दूरे देशे वर्त्तत **इति त्वया उदिते** = उक्ते, पृष्टे सतीत्यर्थः । **अथ** = प्रश्नानन्तरं **रुदतः** = अनिष्टोच्चारणाशक्तया अश्रूणि विमुञ्चतः

पक्षिणः इतो गच्छतो गतान् विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः=स कालः, कीदृक् भविता=भविष्यति, वज्रपातप्राय इति भावः । कर्त्तरि लुट् ॥१३७॥

'मेरा प्रियतम कितनी दूर है और मेरे लिए सन्देश तथा मृणाल भेजने में उसने बड़ी देर कर दी'—इस प्रकार हे प्यारी ! जब तू (चारा लेकर लौटे हुए अन्य) पक्षियों से पूछेगी और (तब कुछ न कहकर, केवल मेरे शोक में) पक्षियों को रोता हुआ देखेगी तो तेरा वह समय कितने कष्ट से बीतेगा ? ॥१३७॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥१३८॥

कथमिति । हे **विधातः !** **प्रियायाः** वरटायाः **शैत्यमृदुत्वशिल्पिनः**=तादृक् तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्माणकात् **तव पाणिपङ्कजात्**=पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः । **मयि** विषये **'वल्लभया** सह **वियोक्ष्यसे'** **इति** एवंरूपा अत एव [**ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा**] ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि । 'सूर्य्यललाटयोर्दृशितपोः'इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मुमागमः । तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि, चाक्षराणि यस्याः सा । **लिपिः**=अक्षरविन्यासः, **कथं निर्गता**=निसृःता ? । अत्र कारणात् विरुद्धकार्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विषमालङ्कृतिर्मता'इति॥

हे विधाता ! मेरी पत्नी के शीतल (अङ्ग) तथा कोमल (स्वभाव) बनाने वाले आपके इन्हीं कर-कमलों द्वारा—'प्राणवल्लभा के साथ तेरा वियोग होगा'—यह (अङ्ग-शीतलता के विरुद्ध) उत्तमाङ्ग-शिर में ताप-जनक और (मृदुत्व के प्रतिकूल) निष्ठुर उक्ति मेरे माथे में—कैसे लिखी गयी ? ॥१३८॥

अयि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं वतोदिता ।
मुखानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥१३९॥

अयीति—**अद्य**=अस्मिन् दिने । 'सद्यः परुत्'इत्यादिना निपातः । **स्वयूथ्यैः**=स्वसङ्घचरैर्हंसैः कर्तृभिः **अशनिक्षतोपमं**=वज्रप्रहारप्रायं **मम इमं वृत्तान्तम्**=अनर्थवार्त्तां **उदिता**=उक्ता सती । वदेर्नु अर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्म्मणि क्तः । 'वचिस्वपि'इत्यादिना सम्प्रसारणम् । **अयि लोलाक्षि !** चञ्चलनेत्रे **दश अपि दिशां मुखानि शून्यानि**=आलक्ष्य लक्ष्याकाराणि **विलोकयिष्यसि, असंशयं**=सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । **बत** इति खेदे ॥१३९॥

अरी चपलनयनवाली ! अपने यूथ के हंस जब वज्रप्रहार के समान, मेरे विषय में यह अनर्थकारी (मरण-) समाचार देंगे, तो हाय ! हाय ! निःसन्देह तुझे दशो दिशाओं के मुख (अगले हिस्से) शून्य दिखाई देंगे (आँखों के आगे अँधेरा छा जायगा) ॥१३९॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयापि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥१४०॥

ममैवेति । हे **चित्राङ्गि !** = लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचित्रगात्रे ! **मम शोकेन एव** = मद्विपत्तिदुःखेनैव, **विदीर्णवक्षसा**=विदलितहृदा **त्वयाऽपि विपद्यते**=म्रियते **यदि, तत् तर्हि दैवेन हतः स्फुटं** = व्यक्तं पुनर्**हतोऽस्मि हा** इति विषादे । 'हा विस्मय-विषादयो'इति विश्वः । कुतः ? **यतः ते शिशवः परासवः** = मातुरप्यभावे पोषकाभावान्मृताः । अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ॥

हे आश्चर्यजनक अङ्गलावण्यवाली ! यदि मेरे शोक के कारण हृदयविदीर्ण हो जाने से, तेरी मृत्यु हो जाय—तब तो हाय ! मैं मरा हुआ भी भाग्य से, फिर मारा जाऊँगा क्योंकि तेरे दुधमुँहे बच्चे (तेरे पोषण के अभाव से) अवश्य मर जायँगे ॥

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥१४१॥

ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—**तवापी**ति । हे प्रिये ! **बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः** = कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः । **अस्फुटितेक्षणाः** = अद्याप्यनुन्मीलितेक्षणा **मम ते** = पूर्वकाः शिशवः **तवापि** = न केवलं ममैवेति भावः । **विरहात्**= विपत्तेः **क्षुधाकुलाः** = क्षुत्पीडिताः **तेषु** = स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः । **कुलायकूलेषु** = नीडान्तिकेषु । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः । **विलुठ्य**=परिवृत्य **क्षणेन गताः** = मृतप्रायाः । **हा हा** इति खेदे ॥१४१॥

हाय ! हाय ! जो बहुत से मनोरथों से बहुत दिनों के बाद उत्पन्न हुए हैं और जिनकी आँखें भी अभीतक नहीं खुली हैं—ऐसे मेरे और तेरे बच्चे-तेरे विरह से भूख-प्यास से विकल हो, (हमारे बनाए हुए) उस घोंसले के छोर से गिर-गिर कर, क्षण भर में ही मौत के शिकार हो जायंगे ॥१४१॥

सुताः ! कमाहूय चिराय चूत्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स स्रुतस्य सेकाद्बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

सुता इति । हे सुताः ! चूङ्कृतैः = चूङ्कारैः, चिराय कं प्रति आहूय कमपि प्रति मुखानि कम्प्राणि = चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं = कथा-मात्रशेषा भवत; कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद्म्रियध्वम् । प्राप्तकाले लोट् । मरणकालः प्राप्त इत्यर्थः । इति=इत्युक्त्वेत्यर्थः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । मील्य=मूर्च्छां प्राप्य स = हंसः स्रुतस्य=दयार्द्रभावात् प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे=संज्ञां लेभे । प्रयेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या ॥१४२॥

बच्चो ! बहुत देर तक चूँ-चूँ करके, तुम किसे बुलाओगे ? अपनी चोंच हिला-हिलाकर, उसमें किसके मुँहों को डाल-डालकर, बोलना सीखोगे ? अब तो ('दूसरे पक्षियों के लिए) तुम्हारी कहानी ही रह जायगी--ऐसा विलाप करके, मूर्छित हुआ वह राजहंस, राजा नल के गिरे हुए नयन-जल से सिक्त होने पर, फिर चैतन्य हुआ ॥

इत्थममुं　　विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयावनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥१४३॥

अत्र 'सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैः' इति काव्यलक्षणाद्वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह—इत्थमित्यादिना । इत्थं विलपन्तं=परिदेवमानम् अमुं=हंसं, अवनिपालः=नलो [दीनदयालुतया] दीनेष्वार्त्तेषु, दयालुतया कारुणिकतया । रूपम्=आकृतिः अदर्शि=अपूर्वत्वादवलोकितं । यस्मै यदर्थं=रूपदर्शनार्थमेव, धृतः = गृहीतोऽसि । अथ यथेच्छ गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् = मुक्तवान् । दोधकवृत्तमिदम् 'भभभा गौ' इति लक्षणात् ॥१४३॥

इस तरह विलाप करते हुए राजहंस को अवनिपाल नल ने, दीनदयालुता के कारण, यह कह कर छोड़ दिया कि 'हे हंस ! जिस (रूपदर्शन) के लिए मैंने तुम्हें पकड़ा था उस सौन्दर्य को देख लिया; अब तुम जहाँ जाना चाहो, जा सकते हो' ॥

आनन्दजाश्रुभिरनुश्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् ।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥१४४॥

आनन्देति । स = हंसः, [चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन] चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य, छलेन, नीराजनां जनयतां = कुर्वतां निजबान्धवानां बन्धमुक्तं बान्धवाः नीराजयन्तीति समयाचारः [प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्] प्राङ् मोचनात्पूर्वं, शोके निर्गलिता निःसरिता नेत्रपयःप्रवाहाः बाष्पपूरास्तान् आनन्दजाश्रुभिः = आनन्दबाष्पैः, अनुश्रियमाणमार्गान् = अनुगम्य-

मानमार्गान् चक्रे=कृतवान् । अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं, छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्नवभेदः । अत्र चमत्कारित्वान् मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सर्गान्तश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः । यथाह भगवान् महाभाष्यकारः– 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते । वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति । अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवति' इति । वसन्ततिलकावृत्तम् । 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद्वृत्तभेदः । यथाह दण्डी–'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः । सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्' इति ॥१४४॥

गोल चक्कर काट-काटकर, उसके बान्धव हंसगण उसकी परिक्रमा कर रहे थे– मानो इस बहाने अपने स्वजन-पक्षियों द्वारा आरती उतारे जाने वाले हंस ने– पहले (अपने पकड़े जाने) के समय शोक से निकली हुई आँसुओं की धारा के पीछे, अपने (मुक्त होने पर) आनन्द के आँसू बहाये ॥१४४॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥१४५॥

अथ कविः काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह–श्रीहर्षमिति । [**कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः**]कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमौलीनाम् अलङ्कारः अलङ्कारभूतः, हीरो वज्रमणिः, **श्रीहीरो** नाम विद्वान् [**जितेन्द्रियचयं**] **श्रीहर्षं**=श्रीहर्षनामानं **यं सुतं सुषुवे**=जनयामास **मामल्लदेवी**=नाम स्वमाता सा **च यं सुतं सुषुवे** । [**तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले**] तस्य श्रीहर्षस्य, यश्चिन्तामणिमन्त्रः ब्रह्मणो मन्त्रस्तस्य चिन्तनमुपासना, तस्य फले फलभूते,**शृङ्गारभङ्ग्या**= शृङ्गाररसवत्या, **चारुणि** [**नैषधीयचरिते**] निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके, **महाकाव्ये, अयमादिः**=प्रथमः **सर्गो गतः**=समाप्त इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शार्दूलविक्रीडितमेतत् । 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् ॥१४५॥

इति पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां जीवातुसमाख्यायां नैषधटीकायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ।

कविराज-समूहों के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरा मणि (अर्थात् असाधारण राष्ट्रकवि) श्रीहीर नामक पिता तथा (अपने सौन्दर्य से मा = रमा को जीतने वाली) मा-मल्लदेवी माता ने जिस जितेन्द्रिय (विद्या-श्री से हर्षित होने वाले) श्रीहर्ष नामक पुत्र को उत्पन्न किया; उसके चिन्तामणि मन्त्र की उपासना (ब्रह्म-मन्त्र के जाप) जनित फल और शृङ्गार रस की रचना से मनोहर, नैषधीय चरित नामक महाकाव्य का यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥१४५॥

द्वितीयः सर्गः ।

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात् ततः ।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

अधिगत्येति । **अथ** = मोचनानन्तरं **स द्विजः** = पक्षी, विप्रश्च । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । **जगत्यधीश्वरात्** = क्ष्मापतेः, भुवनपतेश्च । 'जगती भुवने क्ष्मायाम्' इति विश्वः । **पुरुषोत्तमात्** = पुरुषश्रेष्ठात्, विष्णोश्च । **ततः** = तस्मात् प्रकृतान्नलात्, अन्यत्र प्रसिद्धाच्च । **मुक्तिं** = मोचनं, निर्वाणञ्च । **अधिगत्य** = प्राप्य **यः** = आनन्दो **वचसामपि न गोचरः** = वक्तुमशक्यः 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादेरवाङ्मानसगोचरश्च । **तमानन्दं**, परमानन्दञ्च **अविन्दत** = अलभत । विदेर्लाभार्थात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यात्मनेपदम् । 'शेमुचादीनाम्' इति नुमागमः । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्भेदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च मुख्यार्थबाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवायम् । ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्दप्राप्तिलक्षणार्थान्तरप्रतीतेर्न श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः । अस्मिन् सर्गे एकशतश्लोकपर्यन्तं वियोगिनीवृत्तम् । 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी' इति लक्षणादिति संक्षेपः ॥ १ ॥

तब उस द्विज (हंस पक्षी) ने पुरुषर्षभ पृथ्वीपति नल के हाथों से छुटकारा पाकर, जो आनन्द प्राप्त किया वह उसी प्रकार वर्णनातीत है, जिस प्रकार कोई (ब्रह्मवेत्ता) ब्राह्मण भगवान् पुरुषोत्तम जगन्नाथ के हाथों मुक्ति पाकर, वाणी से परे परमानन्द प्राप्त करता है ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम् ।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

अधुनीतेति । **स खगः** = हंसः, **उत्फुल्लतनूरुहीकृतां** = नृपकरपीडनादुद्बुद्धपतत्रीकृतां । 'पतत्रञ्च तनूरुहम्'इत्यमरः । **तनुं** = शरीरं **नैकधा**=अनेकधा । नञर्थस्य 'सुपसुपा'इति समासः । नञ्समासे न लोपप्रसङ्गः । **अधुनीत**=धुतवान् । धूञः क्र्यादेर्लङिति तङ् । 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । किञ्च [**कर-यन्त्रण-दन्तुरान्तरे**] करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन, दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे । **पक्षती** = पक्षमूले । 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्'इत्यमरः । **चञ्चुपुटेन** = त्रोटिसम्पुटेन, **व्यलिखत्** =विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः । एतदादेः श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥२॥

उस राजहंस ने अपने उत्फुल्ल रोमवाले शरीर को अनेक प्रकार से फड़फड़ाया ; और सम्पुट के समान संयुक्त चञ्चु-युगल से अपने डैनों की जड़ को कुरेदा, कि जिसका बिचला हिस्सा, नल के हाथ (की अंगुलियों के बन्धन) में रहने से, ऊँचा-नीचा हो गया था ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्गमङ्घ्रिणा ।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

अयमिति । **अयं** = हंसः **स्खलनक्षणे एव** = मोचनानन्तरमेवेत्यर्थः । **एकतमेनाङ्घ्रिणा पक्षतेः** = पक्षमूलस्य [**अधिमध्योर्ध्वगजङ्गं**] मध्ये इत्यधिमध्यम् । ऊर्द्ध्वगा ऊर्ध्वगामिनो जङ्घा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तथा, **द्रुतकण्डूयितमौलिः** = सत्वरं कर्षितचूडः सन्, **आलयं** = निजावासं **शिश्रिये** = श्रितवान् ॥ ३ ॥

वह हंस-नल के हाथ से छुटकारा पाते ही, एक पञ्जे से जल्दी-जल्दी शिर को खुजला कर और दोनों डैनों की जड़ के बीच में जंघा ऊँची करके, – अपने घोंसले में चला गया ॥ ३ ॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।
नुनुदे तनुकण्डुपण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

स इति । **पण्डितः** = निपुणः **स** = हंसः [**गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान्**] गरुतः पक्षा एव वनदुर्गं, तत्र दुर्ग्रहान् ग्रहीतुमशक्यान्, **कटु**=तीक्ष्णं, **दशतः**=दन्तैस्तुदतः, **क्वचित्** = कुत्रचिदेव **सतः** = वर्त्तमानान् **कीटान्** = क्षुद्रजन्तून् [**पटुचञ्चूपुट-**

कोटिकुट्टनैः] पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटेः कोट्योः अग्रेण कुट्टनैः घट्टनैस्तनुरल्पा कण्डूर्यस्मिन्, तनुकण्डु यथा तथा । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वः । नुनुदे = निवारितवान् । 'स्वरितञितः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४ ॥

दुर्गरूपी पंखों के समूह में इधर-उधर घुसजाने से पकड़ में न आने वाले, वहां (गुप्तस्थान में) रहनेवाले और तीव्रता से काटनेवाले कीड़ों को—खुजलाने में पण्डित उस हंस ने,—अपनी मजबूत चोंच की नोंक के प्रहार से धीरे-धीरे खुजला कर, निकाल बाहर किया (मारडाला) ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यव्रियताथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

अयमिति । **अयं** = हंसः **तडागनीडजैः** = सरःपक्षिभिस्तत्रत्यहंसैः । 'नीडोद्भवा गरुत्मन्तः' इत्यमरः । **लघु**=क्षिप्रम् **एत्य**=आगत्य **पर्यव्रियत** = परिवृतः । वृणोतेः कर्मणि लङ् । **अथ**=परिवेष्टनान्तरम् **अस्य**=हंसस्य **करग्रहजात्** = नलकरपीडनजन्यात् विकृतादेव **वैकृताद्** = विलुण्ठितपक्षस्वरूपाद्विकारदर्शनादित्यर्थः । स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । **शङ्कितैः** = चकितैः । अत एव **विकस्वरस्वरैः** = उच्चर्घोषैस्तैः **उदडीयत** = उड्डीनं । डीङो भावे लङ् ॥ ५ ॥

तालाब के पक्षियों ने जल्दी से आकर, उस राजहंस को घेर लिया पर बाद में, नल के हाथों में जाने से उस के अस्त-व्यस्त हुए पंखों के देखने से, त्रस्त होकर, विस्पष्टरूप से जोर-जोर शब्द करते हुए वे उड़ गये ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः ।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

दधत इति । अथ **स खगः** = हंसः, [**बहुशैवल-क्ष्मतां**] बहुशैवला भूरिशैवला, क्ष्मा भूर्यस्य तद्बहुशैवलक्ष्मं, तस्य भावः तत्ता तां **दधतः** = दधानात् **सरसः** = पल्वलात् [**बहुशैव-लक्ष्मता**] बहूनि शैव-लक्ष्माणि शिवभक्तचिह्नानि यस्य स बहुशैव-लक्ष्मा तस्य भावः, तत्ता तां **दधतः** = दधानस्य **नलस्य** [**धृतरुद्राक्षमधुव्रतं**] रुद्राक्षाणि मधुव्रता इवेत्युपमितसमासः । ते धृता येन तं **करं कोकनदभ्रमात्** = रक्तोत्पलभ्रान्तेः **इव पुनर्ययौ** । कोकनदं तु रुद्राक्षसदृशमधुव्रतं खलु । अत्र बहुशैवलेत्यादौ शब्दश्लेषः, तदुत्थापिता रुद्राक्षमधुव्रतमित्युपमा, तत्सापेक्षा चेयं कोकनदभ्रमादिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ६ ॥

वह राजहंस—चतुर्दिक् पृथ्वी में व्याप्त बहुत सी सेवार वाले और रुद्राक्ष के समान भ्रमर धारण करने वाले सरोवर से--विविध शैवचिह्नों (भस्म, त्रिपुण्ड्र) के धारण करने वाले और भौंरों की पंक्ति के समान रुद्राक्ष धारण करने वाले (सरोवरतुल्यशरीर वाले) नल के (रक्तवर्ण) हाथ में, कोकनद (लाल कमल) की भ्रान्ति (धोखे) से, मानों फिर चला आया ॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु सः ।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

अथास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते—**पतग** इति । स **पतगः**=हंसः **चिरकाललालनात्** = उपलालनात् **अतिविश्रम्भम्** = अतिविश्वासं । 'समौ विश्रम्भ-विश्वासौ' इत्यमरः । **अवापितः** = प्रापितो **नु** = किम् इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति भावः । किञ्च **एतस्य महीभुजो भुजं भजन्** = स्वयमाप्नुवन् , **अतुलं कुतूहलं, विदधे** = कौतुकञ्चकारेत्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्तिलतण्डुलवत् संसृष्टिः । 'एकद्वित्र्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्भवेद्यदि । सङ्ख्यानियममुल्लङ्घ्य वृत्त्यनुप्रास ईरितः' इति ॥ ७ ॥

उस हंस ने—बहुत देर तक लालन के निमित्त (कोमल भाव से हाथ में) लिये रहने के कारण, मानों अत्यन्त विश्वस्त हो, उन के हाथ का आश्रय लेकर—राजा नल के (मन में) अनुपम कुतूहल उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु ।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

नृपमानसमिति । **इष्टमानसः** = प्रियमानसः **स** = राजहंसः । [**कुतुकामृतोर्मिषु**] कुतुकं हर्षस्तदेव अमृतं सुधा तस्योर्मिषु **निमज्जत्** = अन्तर्गतं **नृपमानसं** = नलमनः । [**अवलम्बित-कर्णशष्कुली-कलसीकं**] कर्णौ शष्कुल्याविवि कर्णशष्कुल्यौ ते एव कलस्यौ ते अवलम्बिते अवधीकृते धृते च येन तत्तथोक्तं । 'नद्यृतश्च' इति कप् । **रचयन्**=कुर्वन् **अवोचत**=उक्तवान् । जले मज्जन्नपि तरणार्थं कलसमवलम्बते, तद्वत् । कर्णशष्कुली-कलश्याविव्युपमारूपकयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

मानसरोवर-प्रिय हंस ने—कुतूहलरूप अमृत-तरङ्गों में डूबते हुए, राजा नल के चित्त को, (जिस प्रकार कोई व्यक्ति दो कलशों को फेंक कर, जल-तरङ्गों में

डूबते हुए मनुष्य को बचाता है, उसी प्रकार) कानों के (दो) छेद रूपी दो कलशों का अवलम्बन (सहारा) देकर,—कहा ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः॥ ९ ॥

मृगयेति । धर्मागममर्मपारगैः = धर्मशास्त्रतत्त्वपारदर्शिभिः **अपि** । 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति गमेर्डप्रत्ययः । **नृपैर्मृगया** = आखेटो **न विगीयते**=न गर्ह्यते, तथापि हे **स्मरसुन्दर ! माम् अत्यज** इति **यत् सः**=त्याग-**स्तव [दयोदयोज्ज्वलः]** दयोदयेनोज्ज्वलो विमलः, निरुपाधिक इति यावत् । **धर्मः**=सुकृतं; न केवलमाकारादेव सुन्दरोऽसि, किन्तु धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

धर्मशास्त्र के मर्मज्ञ राजा लोग भी शिकार की निन्दा नहीं करते। तथापि हे कामदेव के समान सुन्दर राजन् ! आपने जो (पकड़ कर भी) छोड़ दिया, सो इस का (एकमात्र) कारण आपका धर्म है—जो दया के आविर्भाव से सुन्दर है ॥

अबलस्वकुलाशिनो झषान् निजनीडद्रुमपीडिनः खगान्।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाघाय न भूभृतां घ्नताम् ॥१०॥

ननु प्राणिहिंसा कथं न विगीयते तत आह—**अबलेति । अबलस्वकुलाशिनो झषान्** । दुर्बलस्वकुलघातिनो मत्स्या इति प्रसिद्धिः । **निजनीडद्रुमपीडिनः** = विण्मोक्षफलभक्षणादिना स्वाश्रयवृक्षपीडाकरान् **खगान्, अनवद्यतृणार्दिनः** = अनपराधितृणहिंसकान् **मृगान्** । 'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः' इति मनुस्मृत्या तरुतृणादीनामपि प्राणित्वात्तद्धिंसा पीडैव' इति भावः । सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययः । **घ्नतां** = हिंसतां **भूभृतां**=राज्ञां **मृगया अघाय**=पापाय, **न भवति**; तद्वधस्य दण्डरूपत्वात्, प्रत्युताकरणे दोष इति भावः ॥१०॥

अपने कुल के दुर्बल जीवों को खा जाने वाली मछलियों के, अपने घोंसला के पेड़ों को (पत्ते, टहनी आदि को तोड़ कर, फल खा कर उस पर बीट कर) कष्ट पहुँचाने वाले पक्षियों के और निरपराध (कुश-कास आदि) तिनकों को भक्षण कर पीड़ा पहुँचाने वाले मृगों के मारने वाले राजाओं को, शिकार करने से पाप नहीं लगता ॥१०॥

यदवादिषमप्रियं तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत्।
कृतमातपसंज्वरं तरोरभिवृष्यामृतमंशुमानिव ॥ ११ ॥

तथापि किमर्थं पुनरागतं त्वयेत्यत आह—यदिति । तव यद् अप्रियम् अवादिषम् = अवोचम् । प्रियम् आधाय=प्रियं कृत्वा, तत् अप्रियं, तरोः कृतं=स्वकृतम् [आतपसंज्वरं] आतपसन्तापम् अमृतम् = उदकम् अभिवृष्य । 'पयः कीलालममृतम्'इत्यमरः । अंशुमानिव नुनुत्सुः = नोदितुं प्रमार्ष्टुमिच्छुः अस्मि ! 'नुदप्रेरणे' इत्यस्माद्धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार आतप (धूप) से की गयी वृक्ष की पीडा को, जल बरसा कर, सूर्य निवारण कर देता है, उसी प्रकार हे राजन् ! (पूर्व में) आपसे जो मैंने अप्रिय (कर्णकटु) वचन कहे थे, उन (अप्रिय शब्दों) का, प्रिय शब्दों को कहकर, परिमार्जन करना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्त्तुं न तवापि साम्प्रतम् ।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः ॥ १२ ॥

तर्हि भवन्मोचनं सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं दृष्टोपकारेणेति न वाच्यमित्याह—उपनम्रमिति । अयाचितम् = अप्रार्थितम् , उपनम्रम् = उपनतं हितम् = इह चामुत्र चोपकारकं, तवापि परिहर्त्तुं न साम्प्रतं = न युक्तम् । 'अयाचितं हितं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः'इति स्मरणादिति भावः । तदपि मादृशात् कथं ग्राह्यमत आह—करेति । हि = यस्मात्कारणात्, स प्रतिग्रहः [कर-कल्प-जनान्तरात्] करकल्पं करस्थानीयमित्यर्थः । ईषदसमाप्तौ कल्पप्प्रत्ययः । यज्जनान्तरं स्वयं यस्य तस्मात् शुचितः = शुद्धाद् विधेः = ब्रह्मणः प्रापि = प्राप्तः; न तु मत्त इति भावः । आप्नोतेः कर्मणि लुङ् । विधिरेव ते दाता, अहं तस्योपकरणमात्रम् ; अतो न याच्ञालाघवं तवेति भावः ॥ १२ ॥

बिना माँगे, किन्तु स्वयमेव आए हुए, कल्याण-कारक पदार्थ का परित्याग करना—आप (जैसे चक्रवर्ती सम्राट्) को भी उचित नहीं है ; क्योंकि यह प्रतिग्रह (उपहार) अपने हाथ सदृश (सर्वथा परिचित एवं स्वाधीन) दूसरे पवित्र जन (अर्थात् मुझ) से प्राप्त होने पर भी वस्तुतः विधाता (सौभाग्य) द्वारा प्राप्त हुआ है, यह समझना चाहिए ॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ?।
इति वेद्मि न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्त्तुमर्त्तयः ॥ १३ ॥

ननु सार्वभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते ? तत्राह—पतगेनेति ।

पतगेन = पक्षिमात्रेण मया जगत्पतेः = सार्वभौमस्य तव, उपकृत्यै = उपकाराय प्रभूयते = क्षम्यते किं = न भूयत एवेत्यर्थः। भावे लट्। इति वेद्मि = अक्षमत्वं जानामि, तु तदपि = तथापि, अत्तयः, यास्तु त्वया विनिवर्तिता इति भावः। मा प्रत्युपकर्त्तु न त्यजन्ति, प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थः। अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकारं करवाणीति भावः॥ १३॥

मैं पक्षी होकर भी, आप जैसे चक्रवर्ती का उपकार करने में क्या समर्थ हो सकता हूँ?—यह बात मैं जानता हूँ, तथापि प्रत्युपकार करने की, मेरी मानसिक पीड़ा, मेरा पीछा नहीं छोड़ रही है॥ १३॥

अचिरादुपकर्त्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम्।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः॥ १४॥

अथ वा यथाशक्ति पक्षोऽस्त्वित्याह—**अचिरादिति**। **अथवा उपकर्त्तुः**, **अचिरात्**, = अविलम्बात्। उपाय एवौपयिकः। विनयादित्वात् स्वार्थे ठक्। 'उपधाया ह्रस्वत्वञ्च' इति ह्रस्वः। तत आगता औपयिकी, ताम् **आत्मौपयिकीं** = स्वोपायसाध्यामित्यर्थः। तत आगत इत्यणप्रत्यये 'टिड्ढाणञ्'इत्यादिना ङीप्। **उपक्रियामाचरेत्** = प्रत्युपकारं कुर्यात्। चरधातो र्विधिलिङ्। **इत्थम्** = एवं सति **सा** = उपक्रिया **पृथुः** = अधिका **अस्तु अथ** = अथवा **अणुः**=अल्पाऽस्तु **विदुषां** = विवेकिनाम् **इह** = अस्मिन् विषये **विशेषे ग्रहः** = आग्रहो **न**। गुणग्राहिणो विवेकिनः कृतज्ञतामेव अस्य पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यन्तीत्यर्थः॥१४॥

अथवा, मनुष्य को चाहिए कि उपकार करने वाले के प्रति, यथासम्भव यथाशक्ति अपनी उपाय क्रिया द्वारा अविलम्ब उपकार कर दें। वह प्रत्युपकार चाहे छोटा या बड़ा—इस विषय में विवेकीजन विशेष आग्रह नहीं मानते॥ १४॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम्।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव?॥ १५॥

अथ स्ववाक्ये आदरं याचते—**भवितेति**। हे नृप! **इदं** = वक्ष्यमाणं **मदीरितं** = मद्वचनं। [**विचारचारु**] विचारे विमर्शे, चारु युक्तं, **न भविता**=न भविष्यति **चेत्तदपि** = अविचारितरमणीयमपि **श्रव्यं** = श्रोतव्यम्। **इयं खगवाक्** इति **अतः अपि** हेतोः **कीरगीः** = शुकवाक् **इव मुदं किं न दास्यति?** दास्यत्येव। प्रयोजनान्तराभावेऽपि कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थः। ददातेः लृट्॥१५॥

भले ही मेरी बात विचार के योग्य न हो, तो भी आप को सुननी चाहिए। पक्षी की बोली होने के कारण, तोते की बोली की भाँति, क्या ये आनन्ददायक न होंगी ? ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकी-कृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

अथ यद्वक्तव्यं तदाह—स इति । [**अरिसार्थसार्थकीकृत-नामा**] अर्थेन अभिधेयेन सह वर्त्तत इति सार्थकम् । 'तेन सह'इति तुल्ययोगे इति बहुव्रीहिः । 'वोपसर्जनस्य'इति सहशब्दस्य विकल्पात् सभावः । 'शेषाद्विभाषा'इति कप् समासान्तः । ततश्च्विरभूततद्भावे, अरिसार्थेषु शत्रुसङ्घेषु, सार्थकीकृतं नाम भीम इत्याख्या येन स तथोक्तः । **स**=प्रसिद्धः । बिभ्यत्यस्मादिति भीमः, 'भियो मः' इत्यपादानार्थे निपातनान्मप्रत्यय औणादिकः । **भीम** इति **भूपतिः**=नृपः, **जयति किल**= सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते खलु । **विदर्भभूः**=विदर्भदेशः, **यं**=भूपतिं **प्रभु**=भर्त्तारम् **अवाप्य** शक्रो भर्त्ता यस्यास्तां **शक्रभर्तृकां** । 'नद्यृतश्च'इति कप् । **द्यां**=दिवं **अपि हसति,** किमुतान्यभर्तृकदेशानित्यर्थः । स्त्रियो हि भर्त्तुरुत्कर्षाद्धासं कुर्वन्तीति भावः । अत्र विदर्भभुवोऽपि द्युहासासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ १६ ॥

शत्रुओं के वर्ग में अपने (भीम) नामक को सार्थक करने वाले (अर्थात् भीम के नाम से शत्रुओं को भीषण भय होता था), विख्यात भूपति भीम की जय हो। जिन्हें अपना पति पाकर, विदर्भ-भूमि—इन्द्रपति वाली अमरावती पुरी का भी उपहास करती है ॥ १६ ॥

दमनादमनाक्प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम ॥ १७ ॥

दमनादिति । **स** = भीमभूपतिः, **अमनाक्** = अनल्पं **प्रसेदुषः** = निजोपासनया प्रसन्नात् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति सदेर्लिटः क्वसादेशः । **दमनात्** = दमनाख्यात् **तथ्यगिरः**=अमोघवचनात् **तपोधनात्**=ऋषेः [**दिष्ट-विष्टप-त्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयां**] दिष्टानां कालानां, विष्टपानां लोकानाञ्च, त्रितययोरनन्यसदृशीं गुणोदयां, कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधारणगुणप्रकर्षां **तनयां** = दुहितरं **वरमाप** = वरत्वेन लब्धवानित्यर्थः । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः ॥ १७ ॥

भीम राजा ने—परिचर्या से अत्यन्त प्रसन्न, अमोघवाणी वाले, दम नामक मुनि से—यह वरदान पाया कि उन्हें तीनों कालों और तीनों लोकों में लोकोत्तर सौन्दर्य आदि विविध गुणावली से सम्पन्न एक कन्या होगी ॥ १७ ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८ ॥

अथास्या नामधेयं व्युत्पादयन्नेवाह—**भुवनत्रयेति** । **असौ**=वरप्रसादलब्धा तनया यतः **तनुश्रिया** = निजशरीरसौन्दर्य्येण करणेन । **भुवनत्रयसुभ्रुवां**=त्रैलोक्य-सुन्दरीणां **कमनीयतामदं** = सौदर्य्यगर्वं **दमयन्ती** = अस्तं गमयन्ती । दमेर्ण्यन्तात् 'न पादमि' इत्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवादः परस्मैपदप्रतिषेधेऽप्यकर्त्रभिप्राय-विवक्षायां परस्मैपदे लटः शत्रादेशः । **उदियाय** = उदिता । इणो लिट् । **ततः** = तस्मादेव निमित्ताद् **दमयन्तीत्यभिधाम्** = आख्यां **दधौ** । दधातेर्लिट् ॥१८॥

यतः वह कन्या अपने शरीर की कान्ति से त्रैलोक्य-सुन्दरियों के सौन्दर्य-गर्व का दमन करती हुई उत्पन्न हुई, इसीलिए उसका 'दमयन्ती' नाम (सार्थक योगरूढ) हो गया ॥ १८ ॥

श्रियमेव परं धराधिपाद्गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।
व्यवधावपि वा विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ॥१९॥

अथैकविंशतिश्लोकैश्चिकुरादारभ्य पादपर्यन्तं दमयन्तीं वर्णयति—**श्रियमिति** । हे नृप ! **ताम्** = दमयन्तीं, **गुणसिन्धोः** = गुणसागरात्, **धराधिपात्** = भीमनरेन्द्रात् **उदिताम्**=उत्पन्नां **श्रियं**=साक्षाल्लक्ष्मीम् **एव परं**=ध्रुवम् **अवेहि**=जानीहि । अवपूर्वादिणो लोटि 'सेर्ह्यपिच्च' इति ह्यादेशे ङित्त्वान्न सार्वधातुकगुणः संहितायामाद्गुणः । अत्र केवलावपूर्वस्य इणो ज्ञानार्थत्वादाङ् प्रश्लेषे तदलाभात् । प्रश्लेषेऽपि 'ओमाङोश्च' इति पररूपमिति केषाञ्चित् प्रक्रियोपन्यासो वृथा प्रक्षाल्य त्यागः । अवैहीति वृद्धिरव-श्येति वामनसूत्रमप्यनाङ् प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपरम् । गुण एव युक्तः इति व्याख्यानात्, अन्यथा 'ओमाङोश्च'इति पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति । न च देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह—**व्यवधौ**=व्यवधाने सत्यपि । 'उप-सर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः । **मृडचूडानिलयां**=हरशिखाश्रयां कलां **विधोः** = इन्दोरेव **कलां को वा न वेद**=सर्वोऽपि वेदैवेत्यर्थः । 'विदो लटो वा'इति वैकल्पिको णलादेशः । यथा हरशिरोगतापि कला चन्द्रस्यैव । तथा भीमभवनोदिताप्येषा

श्रीरेवेति सन्दीपितशायोक्तिः । अत्र श्रीकलयोः नृपमृडौ वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बभावेन सामान्यधर्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः । 'यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते । सामान्यधर्मः काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते'॥ इति लक्षणात् ।१९।

गुण-सागर राजा भीम से उत्पन्न उस दमयन्ती को साक्षात् लक्ष्मीस्वरूप ही समझिए । व्यवधान (शिवजी के अप्रत्यक्ष) होने पर भी कौन नहीं जानता कि उनके भाल पर चन्द्रकला विराजमान रहती है ? ॥१९॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्त्ति यान् ।
पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥२०॥

चिकुरप्रकरा इति । ते **चिकुरप्रकराः** = केशसमूहाः, **जयन्ति** = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । यान्, वेत्तीति **विदुषी** = विशेषज्ञा । विदेः शतुर्वसुः । 'उगितश्च' इति ङीप् । वसोः सम्प्रसारणम् । **सा** = दमयन्ती **मूर्द्धनि बिभर्ति** । विद्वद्ग्रह एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भावः । अत एव **पशुना** = तिरश्चा चमरीमृगेणापि **अपुरस्कृतेन** = अनादृतेन **चामरेण** = चमरीपुच्छेन सह **तत्तुलनां** = तेषां चिकुराणां समीकरणं **कः इच्छतु**; न कोऽपीत्यर्थः । सम्भावनायां लोट् । अत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृतपदार्थहेतुकत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्'इति लक्षणात् ॥२०॥

वे केशकलाप धन्य हैं—जिन्हें विदुषी दमयन्ती अपने मस्तक पर धारण करती है । ऐसा कौन (सहृदय) व्यक्ति होगा जो (चमर) पशु (महामूर्ख) से भी अपुरस्कृत (पूछ होने के कारण पीछे धारण किए हुए; तिरस्कृत) चमर नामक मृग की पूछ की रोम-राजि से उस दमयन्ती के केश-कलाप की तुलना करने की इच्छा करे ? ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

स्वदृशोरिति । **मृगाः** = हरिणाः [**तदखर्वेक्षणशोभया**] तस्या दमयन्त्याः अखर्वयोरायतयोरीक्षणयोरक्ष्णोः शोभया कर्त्र्या, **जितयोः**, अत एव **भयादुदयत्प्रमीलयोः** = उत्पद्यमाननिमीलनयोः **स्वदृशोः** = निजनयनयोः, [**खुरकण्डूयनकैतवात्**] खुरैः शफैः । 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्'इत्यमरः । कण्डूयनस्य कर्षणस्य कैतवाच्छलात् **सान्त्वनां जनयन्ति** = लालनां कुर्वन्ति । यथा लोके

पराजिता निमीलिताक्षाः स्वजनैर्भयनिवृत्तये करतलास्फालनादिना परिसान्त्व्यन्ते, तद्वदिति भावः। अत्र कैतवशब्देन कण्डूयनमपह्नुत्य सान्त्वनारोपादपह्नवभेदः ॥२१॥

उस दमयन्ती के विशाल नयनों की शोभा से पराजित हो जाने के कारण, मानों हरिण भय से आँखें बन्द हो जानेवाली मूर्च्छा आ जाने के कारण अपने नेत्रों को खुजलाने के बहाने (उसी प्रकार) सान्त्वना देते हैं (जिस प्रकार शत्रु से पराजित हो जाने के कारण कोई व्यक्ति उसके त्रास के कारण आँखें मींच लेता है, फिर किसी के हाथ फेरने से सान्त्वना प्राप्त करता है) ॥२१॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते! ॥२२॥

अपीति। हे **धरापते!** [**दमस्वसुः**] दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य स्वसुर्दमयन्त्याः, **लोकयुगं** = मातापितृकुलयुगं **अपि श्रुतिगामितया** = वेदप्रसिद्धतया, **सुतरां व्यतिभाते** = परस्परोत्कर्षेण भातः। तथा **दृशौ** = नेत्रे **अपि श्रुतिगामितया** = कर्णान्तविश्रान्ततया **व्यतिभाते** = परस्परोत्कर्षेण भातः। तथा [**श्रुतदृष्टाः**] श्रुताः श्रुतिप्रसिद्धाः, ते च ते दृष्टाः लोकप्रसिद्धाश्च। विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षायां विशेषणसमासः। ते **रमणीगुणाः** = स्त्रीधर्मा **अपि श्रुतिगामितया** = जनैः श्रूयमाणतया। 'श्रुतिः श्रोत्रे तथाम्नाये वार्त्तायां श्रोत्रकर्मणि' इति विश्वः। **सुतरां व्यतिभाते** = व्यतिहारेण भान्ति। 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्यादादेशः। सर्वत्र कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यात्मनेपदम्। अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम्। अत्र लोकयुगादीनां त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिताभेदः। 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता' इति लक्षणात् ॥२२॥

हे राजन्! दमयन्ती के दोनों (माता-पिता के) कुल—श्रुतिगामी (वेदप्रसिद्ध) होने के कारण; उसके दोनों लोचन—श्रुतिगामी (कर्णपर्यन्त विस्तृत) होने के कारण; और श्रुत-दृष्ट (श्रुति-प्रसिद्ध तथा लोक-प्रसिद्ध अर्थात् वैदिक एवं लौकिक; जो सुने जाते हैं और उसमें प्रत्यक्ष देखे जाते हैं वे) उसके (सौन्दर्य, कला, विद्या, नारीधर्म आदि) रमणी-गुण श्रुतिगामी (सब लोगों के श्रवण-गोचर) होने के कारण अत्यन्त श्लाघनीय हैं ॥२२॥

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे ।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ॥२३॥

नलिनमिति । **नलिनं** = पद्मं, **मलिनम्** = अचारु **विवृण्वती** = कुर्वाणे **पृषतीं** = मृगीम् **अस्पृशती** । असमानत्वात् दूरादेव परिहार इत्यर्थः । **तदीक्षणे** = तल्लोचने **अञ्जनाञ्चिते** = कज्जलपरिष्कृते सती, **खञ्जनं** = खञ्जरीटाख्यं, खञ्जननामकः पक्षिविशेषः । 'खञ्जरीटस्तु खञ्जनः' इत्यमरः । तमपि । **रुचिगर्वदुर्विधं** = चारुत्वगर्वनिःस्वं **विदधाते** = कुर्वाते; सर्वथाऽप्यनुपमेये इत्यर्थः । 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः' इत्यमरः । ईक्षणयोर्नलिनादिमलिनीकरणाद्यसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तया चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ २३ ॥

उसकी आँखें—जब सुरमे की सलाई का स्पर्श नहीं करतीं तब तो—नलिनी को मलिन बनाती हैं और हरिणी की आँखों का दूर ही से परित्याग कर (उपहासास्पद बना) देती हैं, किन्तु उसकी सुरमा लगी हुई आँखें तो (सुन्दर कृष्णवर्ण रेखा सम्पन्न) खञ्जन पक्षी के सौन्दर्य-अभिमान को भी टूक २ कर देती हैं ॥२३॥

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमाभ्यामिति भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत् ॥२४॥

अधरमिति । **'अधरबिम्बम्' इत्यदः पदम्** अधरं बिम्बमिवेत्युपमितसमासाश्रयेण स्त्रीणामधरेषु यत्पदं प्रयुज्यते तदित्यर्थः । **अस्याः** = दमयन्त्याः **रदनच्छदम्** = ओष्ठम् **वदत्** = अभिदधत्, तदभिधानाय प्रयुक्तं सदित्यर्थः । **बिम्बनामकं फलं** बिम्बम् **अस्माद्** दमयन्तीरदनच्छदाद् **अधरं किल** = अपकृष्टं खलु इति अधरशब्दस्यापकृष्टार्थत्वे अधरं बिम्बं यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति । **भव्यम्** = अबाधितम् **अन्वयं** = वृत्तिपदार्थसंसर्गलक्षणं **लभते** अन्यथा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थः पदविधिः' इति समर्थपरिभाषा भज्येत । तर्हि नोपमा स्यादिति भावः । अत्र दमयन्तीदन्तच्छदस्य बिम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, पूर्ववत् ध्वनिश्च ॥२४॥

'अधर-बिम्ब' पद दमयन्ती के ओठ की भव्यरूपता को प्रकट करता है । (दूसरी महिलाओं के सम्बन्ध में 'अधरबिम्ब' पद का अर्थ बिम्ब फल के समान अधर' उपमित [illegible] समास, मान ही होता) पर दमयन्ती के सम्बन्ध में

उसका वास्तविक अर्थ यही निकलता है कि बिम्ब (पके हुए कुन्दरू का फल आकार में, वर्ण में और स्वाद में) दमयन्ती के होठ से वस्तुतः अधर (हीन) हैं ॥२४॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥२५॥

हृतसारमिति। इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय = तन्निर्माणायेत्यर्थः। 'क्रियार्थोपपदस्य'इति चतुर्थी। वेधसा हृतसारम्=उद्धृतमध्याङ्कम् इव। कुतः? कृतमध्यबिलं = विहितमध्यरन्ध्रम् अत एव [धृतगम्भीरखनीख-नीलिम] धृतो गम्भीरखनीखस्य निम्नमध्यरन्ध्राकाशस्य, नीलिमा नैल्यं तथा विलोक्यते। 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्'इत्यमरः। 'कृदिकारादक्तिनः'इति ङीप्। अत्र कलङ्कापह्नवेन खनीलिमारोपादपह्नवभेदः। स च कृतमध्यबिलमित्येतत्पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गानुप्राणितः। तदपेक्षा चेयं हृतसारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः। तया चोपमा व्यज्यत इति पूर्ववत् ध्वनिः ॥ २५ ॥

ब्रह्मा ने दमयन्ती का मुख बनाने के लिए, चन्द्र-बिम्ब का मानो सार-भाग निकाल लिया है, इसी कारण उसके बीच में बिल (सूराख) हो गया है। चन्द्रमा के उस गम्भीर खात (गहरे छेद) से वास्तव में आकाश की नीलिमा दिखलायी पड़ती है ॥ २५ ॥

धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानकम् ॥२६॥

धृतेति। विधिः = ब्रह्मा [धृत-लाञ्छन-गोमयाञ्चनं] धृतं लाञ्छनमङ्क एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयसंश्लेषणम् येन तम्। आलेपनपाण्डरं = निजकान्तिसुधाधवलितमित्यर्थः। विधुं = चन्द्रमेव [विदर्भजानन-नीराजन-वर्द्धमानकं] विदर्भजाननस्य वैदर्भीमुखस्य, नीराजनवर्द्धमानकं नीराजनशरावम्। 'शरावो वर्द्धमानके' इत्यमरः। किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः। भ्रमयति, उचित। लोकोत्तरत्वात् इति भावः। एवं नीराजयन्तीति देशाचारः। अत्र विधुलाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेन रूपणात् सावयवरूपकम् ॥२६॥

(जिस प्रकार नज़र लगने पर ऐपन और गोबर एक में मिला, परई में रखकर, उस व्यक्ति के शिर पर घुमाया जाता है, उसी प्रकार) कलङ्क रूप गोबर के लेप वाले, ऐपन के समान सफेद लगने वाले चन्द्रमा को विदर्भराजकुमारी

दमयन्ती के मुख की आरती उतारने के लिए, ब्रह्मा उसे आरती-पात्र (कसोरे) के समान घुमाते रहते हैं ॥२६॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात् ।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥२७॥

सुषमेति । [सुषमाविषये] सुषमा परमा शोभा, सैव विषयः, यस्मिन् । **परीक्षणे** = जलदिव्यशोधने कृते **निखिलं पद्मं** = पद्मजातं **तन्मुखात्** अपादानात्, भङ्गावधित्वात् **अभाजि** = अभञ्जि, स्वयमेव भग्नमभूदित्यर्थः । **स्फुटं** । कर्त्तरि लुङ् । 'भञ्जेश्च चिणि' इति वैभाषिको नकारलोपः । अत एव **अधुनापि भङ्गलक्षणं** = पराजयचिह्नं [**सलिलोन्मज्जनं**] सलिलादुन्मज्जनं क्षणमपि **नोज्झति** = न जहाति । जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयलिङ्गत्वस्मरणादिति भावः । उन्मज्जनक्रिया-निमित्तेयं भङ्गोत्प्रेक्षा ॥२७॥

सर्वोत्तम शोभा की परीक्षा (अर्थात् कमलों की परमा शोभा है, अथवा दमयन्ती के मुख की; इस परीक्षा-प्रतिद्वन्द्विता) में सब कमल दमयन्ती के मुख से स्वयं ही पराजित हो गये । वे जल के ऊपर मस्तक उठाये रहते हैं—जिससे स्पष्ट है कि आज भी वे अपनी पराजय के चिह्न को नहीं छोड़ रहे हैं । [जिस प्रकार प्राचीन काल में जल-दिव्य परीक्षा में कोई धनुष खींचकर तीर छोड़ता था और दूसरा व्यक्ति वहाँ दौड़कर आता था और उस समय तक दिव्यकारी पुरुष को जल में सिर डुबाये हुए देखता था तो उसकी जय मानता था; और जल से ऊपर मस्तक उठाये देखता था तो उसकी पराजय मानता था । उसी प्रकार कमल का जल के ऊपर मस्तक उठाये रखने से स्पष्ट है कि सुषमा की जल-दिव्य-परीक्षा में दमयन्ती के मुख से उसकी पराजय हुई है] ॥२७॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥२८॥

धनुषी इति । **तद्भ्रुवौ विश्वजयाय उदिते**=उत्पन्ने **रति-पञ्चबाणयोर्धनुषी**, नूनमित्यादिव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा । किञ्च; [**तदुच्चनासिके**] तस्याः दमयन्त्याः, उच्चनासिके उन्नतनासापुटे, **त्वयि** [**नालीक-विमुक्ति-कामयोः**] नालीकानां द्रोणिचापशराणां, विमुक्तिं कामयेते इति तथोक्तयोः तयोः । 'शिलिका-

...स्याचरिभ्यो णः' इति णप्रत्ययः । 'नालीके पद्मखण्डे स्त्री नालिका शरशरयोः' इति विश्वः । नलिके न = द्रोणिचापे न किमिति काकुः । पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥२८॥

क्या दमयन्ती की दोनों भौंहें—अखिल विश्व की विजय करने के लिए—कामदेव और रति के दो धनुष-उदित हुई हैं ? क्या दमयन्ती की उठी हुई नाक के दोनों छिद्र आपके ऊपर दु-नाली बन्दूक द्वारा गोली का प्रहार करने की इच्छा करने वाले रति—कामदेव की दो नलिकाएँ नहीं हैं ? ॥२८॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥२९॥

सदृशीति । हे शूर ! [**जलदुर्गस्थ-मृणाल-जिद्भुजा**] जलदुर्गस्थानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ भुजौ यस्याः सा । **मित्रजुषाम्** = अर्कसेविनां ...सलिलानाञ्च, सहायसम्पन्नानामपीत्यर्थः । 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः । करसरोरुहामपि **श्रियः** = शोभा, सम्पदश्च । 'न लोक'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । **करलीलया** = भुजविलासेन, भुजव्यापारेण बलिग्रहणेन च । 'बलिहस्तांशवः कराः, लीलाविलासक्रिययोः' इति चामरः । **गृहयालुः** = ग्रहीता । 'ग्रहग्रहणे' इति धातोश्चौरादिकात् 'स्पृहि-गृहि'इत्यादिना आलुच् प्रत्ययः । 'अयामन्त' इत्यादिना णेरयादेशः । **सा** = दमयन्ती **तव परम्** = अत्यन्तं **सदृशी** = अनुरूपा इत्युपमालङ्कारः । शूरस्य शूरैव भार्य्या भवितुमर्हतीति भावः ॥ २९ ॥

हे शूर ! (जिस प्रकार आपकी दोनों भुजाएँ जलरूपी दुर्ग में रहने वाले शत्रुओं को जीतने वाली हैं और आपके हाथ अस्त्र-सञ्चालन किया द्वारा मित्र-सहाय सम्पन्न शत्रुओं की राज्यलक्ष्मी को ग्रहण करनेवाले हैं, उसी प्रकार वीराङ्गना) दमयन्ती की दोनों भुजाएँ जलरूपी दुर्ग में रहनेवाले कमल-तन्तु को जीतनेवाली हैं और हाथ के सौन्दर्य-विलास रूपी लीला से ;सूर्य के अनुरागी कमलों की शोभा को ग्रहण करनेवाली हैं । अतः वह एकदम तुम्हारे योग्य है ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी ।
विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः ॥३०॥

वयसी इति । **सुदृशि** = दमयन्त्यां, **स्वाभिविधिं** = स्वव्याप्ति, **विधित्सुनी** = विधातुमिच्छती, अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थः । **शिशुता-तदुत्तरे** = बाल्ययौवने **वयसी** **विधिना** सीमाविधानेन **रोमरेखया** सीमाचिह्नेन

प्रविभज्य, रोमराजः प्रागेव अत्र शैशवेन स्थातव्य, ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वा, **कृतसीम्नी** = कृतमर्य्यादे **अपि** । 'विभाषा ङिश्योः' इत्यलोपः । **न रज्यतः** = न सन्तुष्यतः । रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः । एतेन वयःसन्धिरुक्तः । अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतविवादप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥३०॥

शैशव और इसके बाद आनेवाले यौवन—इन दोनों अवस्थाओं को विधाता ने, समानरूप से विभाग करके (उदर और पीठ में रोओं के रेखा-चिह्न) रोमराजि रूप से उनकी सीमा बाँध दी; परन्तु उस सुनयनी दमयन्ती पर, अपना स्वामित्व जमाने की अभिलाषा से (मैं ही इसे व्याप्त करके अड्डा जमाऊँ—यही प्रत्येक की इच्छा रहती है जिससे) वे परस्पर सन्तुष्ट नहीं रहते ॥३०॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥३१॥

सम्प्रति मौनमेवाश्रित्याह—**अपी**ति। **कान्तिझरैः** = लावण्यप्रवाहैः, **अगाधतां** = दुरवगाहतां **गमिते तद्वपुषि**=दमयन्तीशरीरे, **प्रसर्पतोः**=तरतोः, **स्मरयौवनयोः द्वयोरपि**, **उभौ कुचौ** [**प्लवकुम्भौ**] प्लवस्योन्मज्जनस्य कुम्भौ, प्लवनार्थं कुम्भावित्यर्थः । प्रकृतिविकारभावाभावादश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । लोके तरद्भिः, अनिमज्जनाय कुम्भादिकमवलम्ब्यत इति प्रसिद्धं । **भवतः खलु** । अत्र कुचयोः स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरौत्कर्ष्यं कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३१ ॥

दोनों स्तन उसके—लावण्य-प्रवाह से अगाध हुए—शरीर (—पयोधि) पर विहार करते हुए, कामदेव तथा यौवन के तैरने के दो घड़े हैं ॥ ३१ ॥

कलशे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥३२॥

कलश इति । निजहेतुदण्डजः = स्वनिमित्तकारणजन्यः, [**चक्रभ्रमकारिता-गुणः**] चक्रभ्रमकारिता कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्वं, सैव गुणो धर्मो रूपादिश्च । गुणः प्रधाने रूपादौ'इत्यमरः । **सः कलशे किमु** = दण्डकार्य्ये कलशे संक्रान्तः किमु इत्यर्थः ? कुतः ? **यत्** = यस्मात् **स** = कलशः [**तदुच्चकुचौ**] तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ **भवन्** = तत्कुचात्मना परिणतः सन् [**प्रभाझर-चक्रभ्रमं**] प्रभाझरे लावण्यप्रवाहे, चक्रभ्रमं चक्रवाकभ्रान्तिं, कुलालदण्डभ्रमणं च, **आतनोति** ।

'चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः' 'ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः। अत्र समवायिकारणगुणा रूपादयः कार्ये संक्रामन्ति न निमित्तगुणा इति तार्किकाणां समये स्थिते, गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचौ भवन्'इति कुचकलशयोर-भेदातिशयोक्त्युत्थापितझरचक्रभ्रमात्मकक्रियानिमित्ता कुचात्मनि कलशे कार्ये चक्र-भ्रमकारिताल्लक्षणनिमित्तकारणगुणसंक्रमलक्षणेनोत्प्रेक्षेति सङ्क्षेपः। तार्किकसमये विरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कार इति कैश्चिदुक्तम्। तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कार-पारदृश्वानः शृण्वन्तु ॥ ३२ ॥

कलश में—जो चाक को घुमाने का गुण दिखाई पड़ता है, वह क्या उसे अपने निमित्तकारणीभूत कुम्हार के डण्डे से मिला है? क्योंकि कलश—दमयन्ती के उच्चस्तन का रूप धारण कर, अपने लावण्य के प्रवाह से, कामीजनों के चित्त में, चक्र (चाक और चकवा) का भ्रम उत्पन्न करता है ॥ ३२ ॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

भजत इति। **दमस्वसुः** = दमयन्त्याश्चिकुरैर्**निर्मितबर्हगर्हणः** = कृतपिच्छ-निन्दः, जितबर्ह इत्यर्थः। **शिखी** = मयूरः **षण्मुखं** = कार्त्तिकेयं **भजते खलु**। तथा **कुचशोभया जितकुम्भ इभराट्** = ऐरावतोऽपि **जम्भरिपुं** = इन्द्रं **भजते**। अत्र शिख्यैरावतयोः परपरिभूताः प्राणत्राणाय प्रबलमाश्रयन्त इति प्रसिद्धम्। अत्र शिख्यैरावतयोः षण्मुखजम्भारिभजनस्य जितबर्हत्व-जितकुम्भत्वपदार्थहेतुकत्वात् तद्धेतुके काव्यलिङ्गे तदसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिश्च ॥ ३३ ॥

दमयन्ती के केश-कलाप से, अपनी पूंछ को तुच्छ समझकर, मोर तो स्कन्द-कुमार की सेवा करता है और उसके स्तनों की कान्ति से, अपने कुम्भों को पराजित (हीन) समझकर, ऐरावत इन्द्र की परिचर्या करता है ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठता-स्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

उदरमिति। दमस्वसुः उदरं, [नतमध्य-पृष्ठता-स्फुरदङ्गुष्ठपदेन] नत-मध्यं निम्नमध्यप्रदेशं, पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य भावस्तत्ता तया स्फुरत् दृढग्रहणात् पृष्ठतलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठपदमङ्गुष्ठन्यासस्थानं यस्य तेन मुष्टिना करणेन, **[चतुरङ्गुलि-**

मध्य-निर्गत-त्रिवलिभ्राजि] चतसृणामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलि, 'तद्धित' इत्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचननपुंसकत्वे । तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं यत्त्रिवलि, पूर्ववत् समासादिः कार्यः । यत्तूक्तं वामनेन-'त्रिवलिशब्दः संज्ञा चेत्'इति सूत्रेण सप्तर्षय इत्यादिवत्'दिक्संख्ये संज्ञायां' इतिद्विगुरिति तदपि चेत्करणसामर्थ्यात्, त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थितं गतिमात्रं न सार्वत्रिकमिति प्रतीमः । तेन भ्राजत इति तद्भ्राजि, वलित्रयशोभि कृतम् इत्युत्प्रेक्षा कौतुकिनेति शेषः । मुष्टिग्राह्यमध्येयमित्यर्थः । मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात् पृष्ठमध्ये नम्रता उदरे च चतुरङ्गुलिनोदनाद्वलित्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्षते ॥ ३४ ॥

दमयन्ती के उदर को—ब्रह्माजी ने मुट्ठी में पकड़कर–बनाया क्योंकि पीठ का बिचलाभाग (कसकर पकड़ने के कारण) पिचका होने से वहाँ अँगूठे का दबाव झलकता है और चारो अंगुलियों के बीच से निकली हुई तीन रेखाओं (त्रिवली) से उदर शोभायमान है ॥ ३४ ॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ।
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

उदरमिति । कोऽपि कुतुकी दमस्वसुः उदरं मुष्टिना परिमाति किमु = परिच्छिनत्ति किम् ? इत्युत्प्रेक्षा । कुतः ? यत्=यस्मात् सहेमकाञ्चिभिर्वलिभिः= हेमकाञ्च्या सह चतसृभिस्त्रिवलिभिरित्यर्थः । एतस्याः कनकसावर्ण्यं सूचितम् [धृततच्चतुरङ्गुलीव] धृतं तस्य मातुश्चतुरङ्गुली अङ्गुलिचतुष्टयं येन तत्, इव भाति इत्युत्प्रेक्षा । अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुमद्भूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयः सङ्करः । पूर्वश्लोके वलीनां तिसृणां चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्वमुत्प्रेक्षितम् । इह तु तासामेव काञ्चीसहितानां चतुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्षत इति भेदः प्रेक्षितुरिति भावः ॥ ३५

कोई कौतुकी अपनी मुट्ठी से (कृशोदरी) दमयन्ती के उदर को, नापने लगा (कि देखें, वह मुट्ठी की पकड़ में आता है या नहीं) तो सोने की (महीन) करधनी और त्रिवली (तीनों रेखाओं) के साथ वह (उदर) ऐसा शोभित हुआ कि मानो नापने वाले की चारों अंगुलियों के, उस पर रखने से चिह्न पड़ गये हैं ॥ ३५ ॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।

विधिरेकचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥३६॥

पृथ्वति । [पृथु-वर्तुल-तन्नितम्बकृत्] पृथु वर्तुलं च तस्याः नितम्बं करोतीति नितम्बकृन्नितम्बं कृतवान्, विधिः=ब्रह्मा, मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया = रविरथनिर्माणाभ्यासपाटवेन, [एकक-चक्र-चारिणं] एककमेकाकि । 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः । तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ?, सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातुमिच्छति किमु ? इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा, किमर्थमिदं नितम्बनिर्माणमिति भावः । मातेः सन्नन्ताल्लट् । 'सनि मीमा'इत्यादिना ईसादेशः । 'सस्यार्द्धधातुके' इति सकारस्य तकारः । 'अत्र लोपोभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः ॥३६॥

सूर्य के (एक पहिए वाले) रथ के निर्माण की निपुणता द्वारा, (नितम्बिनी) दमयन्ती के नितम्ब को विशाल और गोलाकार बनाने वाले ब्रह्मा, क्या (अधुना) एक (अद्वितीय) पहिए से चलनेवाला कामदेव का रथ बनाना चाहते हैं ? (ऐसा प्रतीत होता है) ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेण सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम् ।
तरुणीमपि जिष्णुरेव ता धनदापत्यतपःफलस्तनीम् ॥३७॥

तरुणीमपि जिष्णुरेव । परिणाहिना=विपुलेन, ऊरुयुगेण तरुमिति । सुन्दरी,=दमस्वसा, परिणाहिना=विपुलेन, 'न लोक'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । जिष्णुः रम्भां=रम्भां नाम तरुं परं तरुमेव । 'न लोक'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । जिष्णुः किमु ? किन्तु, [धनदापत्यतपःफल-स्तनीं] धनदापत्यस्य नलकूबरस्य, तपसः फलस्तनीं फलभूतकुचां, तां रम्भां नाम तरुणीमपि जिष्णुरेव । 'रम्भाकदल्यप्सरसोः' इति विश्वः । रम्भे इव, रम्भाया इव, चोरू यस्याः सा, इत्युभयथा रम्भोरुरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

यह आभास होता है कि सर्वाङ्गसुन्दरी दमयन्ती अपनी विशाल युगल जंघाओं से एकमात्र वृक्षरूपी रम्भा (कदली) को भी जीतने की अभिलाषा रखती है । यह भी प्रतीत होता है कि वह—उस पूर्णयौवना रम्भा (अप्सरा) को भी जीतना चाहती है— जिसके स्तन कुबेर-तनय नलकूबर को तपस्या के फल से स्पर्श करने को प्राप्त हुए थे [अर्थात् रम्भा= १कदलीस्तम्भ २ अप्सरा से भी बढ़कर विशाल, सुचिक्कण, सुडौल, आकर्षक और रमणीय उसकी जांघ हैं] ॥३७॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतः सहसकी कुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥३८॥

जळजे इति । ये जलजे = द्विपद्म रविसेवया = सूर्योपासनया इव [एतत्पदतां] एतस्याः पदतां चरणत्वमेव पदं = प्रतिष्ठाम् अवापतुः । ते = जलजे कर्मभूते, विधियन्त्रदम्पती = द्वन्द्वचारिणौ ब्रह्मवाहन-हंसौ, एत्य = आगत्य, रुतः = रवात्, कूजनादित्यर्थः । रौतेः सम्पदादित्वात् क्विपि तुगागमः । सहंसकी= सकटकी सहंसकी च, कुरुतः । अभूततद्भावे च्विः । 'हंसकः पादकटकः' इत्यमरः। हंसपक्षे वैभाषिकः कप्रत्ययः । ध्रुवम् इत्युत्प्रेक्षायाम् । पद्महंसयोरविनाभावात् कयो-श्चिद्दिव्यपद्मयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहंसयोरेव हंसकत्वं चोत्प्रेक्षते ॥३८॥

जिन कमल-दम्पती ने मानो सूर्य की उपासना करके, दमयन्ती के पद (चरण) रूप (उच्च) पद पाया, वे ब्रह्मा के वाहन (पत्र) स्वरूप हंसदम्पती को, (मरालगामिनी दमयन्ती के चरणयुगल के) पास लाकर, यह निश्चित है कि नुपूर (पाजेब) द्वय के रूप में परिणत कर, उसे मुखरित (छम छम की आवाज़) कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

श्रितपुण्यसरःसरित् कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम् ।
जळजं गतिमेतु मञ्जुळां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥३९॥

श्रितेति । [श्रित-पुण्य-सरःसरित्] श्रिताः सेविताः, पुण्याः, सरःसरितः मानसादीनि सरांसि गङ्गाद्याः सरितश्च ये तत् । **[समाधि-क्षपिताखिलक्षपं]** समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिताखिलक्षपं यापितसर्वरात्रं. **जळजं [दमयन्ती-पद-नाम्नि]** दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् **जन्मनि, मञ्जुळां गतिं** = रम्य-गतिम्, उत्तमदशाञ्च । 'गतिर्मार्गे दशायां च' इति विश्वः । **कथं नैतु**=एत्वे-वेत्यर्थः । पदस्य गतिसाधनत्वात् तत्रापि दमयन्तीसम्बन्धाच्चोभयगतिलाभः । तथापि जन्मान्तरेऽपि सर्वथा तपः फलितमिति भावः । सम्भावनायां लोट् ॥३६॥

पवित्र (मान-) सरोवर एवं (गङ्गा आदि) नदियों में (स्वाभाविक रूप से, धर्मार्जन की अभिलाषा से) आश्रय लेने (रहने) वाले तथा (सूर्य के दिख-लायी न पड़ने से कलीरूप में आँखें मूंदकर) समाधि में, ध्यानावस्थित हो, सारी रात बिताने वाले कमल—'दमयन्ती के चरण' नाम वाले (अर्थात् दमयन्ती के पद रूप में उत्पन्न) जन्मान्तर में, क्यों न मनोहर गति (चाल, दशा) पावें ?।३६।

सरसीः परिशीळितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता ।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥४०॥

अथ कथं त्वमेनां वेत्सीत्यत आह—सरसीरिति । सरसीः = सरांसि परि-शीलितुं = परिचेतुं, तत्र विहर्त्तुमित्यर्थः । चुरादिणेरनित्यत्वादण्यन्तप्रयोगः । [गमि-कर्मीकृत-नैक-निवृता] गमिर्गमनं शब्दपरशब्देनार्थो गम्यते । तस्य कर्मीकृताः कर्मकारकीकृताः, नैके अनेके, नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपा'इति समासः । नितरां वर्तन्ते जना येष्विति नीवृतः, जनपदाः येन तेन क्रान्तानेकदेशेनेत्यर्थः । 'नहि-वृति'इत्यादिना दीर्घः । मया [सदसत्संशयगोचरोदरी] सदसद्वेति संशय-गोचरः सन्देहास्पदं उदरं यस्याः सा, कृशोदरीत्यर्थः । 'नासिकोदर'इत्यादिना ङीप् । सा = दमयन्ती दृशोरतिथित्वमनायि = स्वविषयतां नीता, दृष्टेत्यर्थः । नयतेः कर्मणि लुङ् ॥ ४० ॥

सरोवरों में स्नान, जलक्रीडा आदि करने के उद्देश्य से, अनेक देशों में गमन करके मैंने अपनी आँखों को—'दमयन्ती को कमर है या नहीं है' इस द्विविध संशय के बारे में, उसे अपना अतिथि बनाया (अर्थात् विश्वसुन्दरी दमयन्ती को दृष्टिगोचर किया) ॥ ४० ॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

अवधृत्येति । अहम्, इमां = दमयन्तीं दिवः = स्वर्गस्य सम्बन्धिभिः यौवतैः = युवतिसमूहैरपि । 'गार्भिणं यौवतं गणे'इत्यमरः । भिक्षादित्वात्समूहार्थे अण्प्रत्ययः । तत्राप्यस्य युवतीति स्त्रीप्रत्ययान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तद्ग्रहणात् तत्साम-र्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धिते'इति पुंवद्भाव इति वृत्तिकारः । न सहाधीतवतीम् = असदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरीमित्यर्थः । नञर्थस्य न शब्दस्य 'सुप्सुपा'इति समास इति वामनः । अवधृत्य = निश्चित्य, विधातुः = ब्रह्मणः, आशये = हृदि अस्याः पतिः कतमस्तु = कतमो वा, वसति इत्यचिन्तयम् । तदैवेति शेषः ॥ ४१ ॥

मैंने दमयन्ती को, देवलोक की युवतियों के साथ, अध्ययन न करनेवाली (अर्थात् देवाङ्गनाओं से भी बढ़कर सुन्दरी) निश्चय किया, 'ब्रह्मा के मन में इसके लिए कौनसा पति है ?'—फिर इसकी चिन्ता मेरे मन में समायी ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

अनुरूपमिति । अथ = इदानीम् अनुरूपं योग्यं त्वां निरूपयन् = तस्याः

पतित्वेनालोचयन्, **सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपक्षता** = दूष्यकोटित्वं व्यपनेतुमक्षमः सन् **त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्** = त्वमेवास्याः पतिरिति निरचैषमित्यर्थः। अयमेव विधातुरप्याशय इति भावः ॥ ४२ ॥

इस चिन्ता के बाद अपने मन में दमयन्ती के पति योग्य होने का निरूपण करते हुए, मैंने अन्य सभी युवकों में 'पूर्वपक्ष' (दमयन्ती के अयोग्य रूप होने की 'पूर्वपक्ष' के समान धारणा) के दूर करने में असमर्थ होकर, (शास्त्रों में जिस प्रकार पूर्वपक्ष' के निरसन के बाद 'सिद्धान्त' का प्रतिपादन होता है, उसी प्रकार) आप में (उसके सौन्दर्य के अनुरूप पति होने की) अपनी 'सिद्धान्त-' बुद्धि को दृढ़ किया ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे ।
चिरमप्यवलोकिताद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति । **चिरमवलोकिताऽपि सा शुचिस्मिता** = सुन्दरी **अद्य** = अधुना—हस्तेन निर्दिशन्नाह—**अनया तव रूपसीमया** = सौन्दर्य-काष्ठया **कृतसंस्कारविबोधनस्य** = उद्बुद्धसंस्कारस्य **मे स्मृतिमारूढवती** = स्मृतिपथं गता, सदृशदर्शनं स्मारकमित्यर्थः ॥४३॥

आपके इस सौन्दर्य की पराकाष्ठा से, पूर्वकालजन्य संस्कार (भावना) के कारण स्मृति हो आने से, बहुत दिनों पहले देखी हुई, भोली मुस्कानवाली दमयन्ती की स्मृति, आज हमारे मन में जाग उठी ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर ! विराजते परं दमयन्ती-किलकिञ्चितं किल ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

ततः किमत आह-त्वयीत्यादि । हे **वीर ! [दमयन्ती-किलकिञ्चितं]** दमयन्त्याः किलकिञ्चितम् । 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम्' इत्युक्तलक्षणलक्षितशृङ्गारचेष्टितं, **त्वयि परं** = त्वय्येव **विराजते किल**=शोभते खलु । तथाहि— **[मणिहारावलि-रामणीयकं]** मणिहारावलेर्मुक्ताहारपङ्क्तेः, रामणीयकं रमणीयत्वम् । योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ् । **तरुणीस्तने एव दीप्यते**; नान्यत्रेत्यर्थः । स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगः । अत्र हारकिलकिञ्चितयोरुपमानोपमेययोर्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतया स्तननृपयोः समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तालङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् ॥ ४४ ॥

हे वीर ! केवल आप में, दमयन्ती के किलकिञ्चित (मुस्कराने, हँसने, रुठने, मान करने आदि विलास चेष्टाओं) के आविर्भाव विशेष रूप से शोभा देंगे; क्योंकि (जिस प्रकार वृद्धा नारी के ढलके हुए स्तनों पर नहीं, प्रत्युत) तरुणी के (दृढ़ तथा उन्नत) उरोजों पर ही मोतियों के रत्न-हार की रमणीकता झलकती है (उसी प्रकार अद्वितीय सुन्दरी दमयन्ती की सभी चेष्टाएं, दुर्बल-अयोग्य-नपुंसक पति के योग्य नहीं, बल्कि आप जैसे वीर के योग्य हैं) ॥४४॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथावनी स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ॥४५॥

तवेति । हे वीर ! **तवेदं रूपं** = सौन्दर्यं **तया** = दमयन्त्या **विना, अवकेशिनः** = वन्ध्यवृक्षस्य । 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः । **पुष्पमिव विफलं** = निरर्थकम् । **ऋद्धधना** = सम्पूर्णवित्ता **इयमवनी वृथा** = निरर्थिका । **सम्प्रवदत्पिका**=कूजत्कोकिला **स्ववनी**=निजोद्यानमपि । गौरादित्वात् ङीप् । **का**=तुच्छा, निरर्थिकेत्यर्थः । तद्योगे तु सर्वं सफलमिति भावः ।'किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दापराधयोः' इति विश्वः । अत्र नलरूपावनीनां दमयन्त्या विना रम्यतानिषेधाद्विनोक्तिरलङ्कारः । 'विना सम्बन्धि यत्किञ्चिदत्रान्यत्र परा भवेत् । रम्यतारम्यता वा स्यात् सा विनोक्तिरुस्मृता' इति लक्षणात् । तस्याश्च पुष्पमिवेत्युपमया संसृष्टिः ॥४५॥

आपका यह (अप्रतिम) लावण्य, दमयन्ती के बिना—फलहीन बाँझ पेड़ के फूल के समान— निरर्थक है ; समृद्ध धन (प्रचुर सम्पत्ति) वाली (आप द्वारा शासित) यह पृथ्वी (साम्राज्य) व्यर्थ है और कुहू कुहू करके बोलने वाली कोयल जिसमें हो—ऐसी (आप की) सुन्दर उद्यान-वाटिका भी किस काम की ? ॥४५॥

अनयामरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया ।
घनसंवृतयाम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

अत्रान्यापेक्षां दर्शयितुं तस्याः दौर्लभ्यमाह—**अनयेति** । [**अमर-काम्यमानया**] अमरैरिन्द्रादिभिः, काम्यमानया ऽभिलष्यमाणया, **अनया** = दमयन्त्या **सह, योगः, अम्बुदागमे घनसंवृतया** = मेघावृतया **निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेन इव त्वया न तु सुलभः**=दुर्लभ इत्यर्थः । अत्र तत्संयोगदौर्लभ्यस्य अमरकामनापदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः । तत्सापेक्षा चेयमुपमेति सङ्करः ॥ ४६ ॥

देवताओं द्वारा कामना की जानेवाली दमयन्ती के साथ आपका मिलन

(सम्बन्ध) उसी प्रकार दुर्लभ है—जिस प्रकार वर्षाकाल में, मेघ से ढँके हुए चन्द्रमा की चाँदनी के साथ, कुमुद का संयोग सुलभ नहीं होता ॥ ४६ ॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम् ।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथापनीयते ॥ ४७ ॥

अत्र का गतिरिति आह—तदिति । **तत्** = तस्मात्, कार्यस्य सप्रतिबन्धत्वाद् **अहं दमयन्त्याः सविधे**=समीपे **तथा तथा तव स्तवं** = स्तोत्रं **विदधे**=विधास्ये इत्यर्थः । सामीप्ये वर्त्तमाने प्रत्ययः । **यथा तया हृदये निहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते;** नेतुमशक्य इत्यर्थः । यथेन्द्रादिप्रलोभितापि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

इस लिए मैं दमयन्ती के सन्निकट आपकी प्रशंसा उस उस प्रकार से करूंगा-जिससे (पति रूप से) धारण किये गये उसके चित्त में निवास करनेवाले, आपको इन्द्र भी न हटा सके ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम् ।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

तर्हि तथैव क्रियतां, किं निवेदनेनेत्यत आह—तवेति । **अत्र** = अस्मिन् कार्ये **केवलाम्** = एकां **तव सम्मतिम्**=अङ्गीकारम्, **अधिगन्तुमिद निवेदितं**= निवेदनं **धिक्** । तथा हि-**साधवो निजोपयोगितां** = स्वोपकारित्वं **फलेन** = कार्येण **ब्रुवते** = बोधयन्ति किंतु **कण्ठेन** = वाग्वृत्त्या 'निजोपयोगितां' **न ब्रुवते** । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४८ ॥

इस (तरुणी दमयन्ती) के बारे में केवल आप (तरुण) की सम्मति जानने के उद्देश्य से ही मैंने यह (४७श्लोकोक्त) बात कही है अन्यथा यह (निवेदन) भी निन्दा के योग्य है । क्योंकि सहृदय व्यक्ति कण्ठ-स्वर (मौखिक-रूप) से नहीं (कहते), बल्कि फल के परिणाम से ही अपनी उपयोगिता स्पष्ट सूचित कर देते हैं ॥४८॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात् ।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥४९॥

तदिति । **स** = नलो **द्विजाधिपात्** = हंसाच्चन्द्राच्च, **अभ्युदितम्**=आविर्भूतं **विशदं** = प्रसन्नमुदारं च **तत्** = पूर्वोक्तम् **इदम्**=अनुभूयमानं [**वचोऽमृतं**]

वच एवामृतमिति रूपकम् । तदवधारणार्थ अत एव अतितृप्ततया = अतिसौहित्येन [तदुद्गारं] तस्य वचोऽमृतस्य उद्गारमिव सितं स्मितं विनिर्ममे = निर्मितवान् । माङः कर्त्तरि लिट् । अतितृप्तस्य किञ्चिन्निःसार उद्गारः । सितत्व-साम्यात् स्मितस्य वागमृतोद्गारोत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

पक्षिराज हंस (द्विजराज चन्द्र) से निकले हुए, पूर्वोक्त विशद (स्पष्ट, नैसर्गिक श्वेत) वाक्य-सुधा (वचनरूप अमृत) का पान कर (आदरपूर्वक श्रवण कर, अशेषतः पीकर), और उस (अत्यधिक पान) से अतीव सन्तुष्ट होने के कारण, नल ने उस (विशद वचोमृत) के उद्गार (उफान) के समान, श्वेत मुस्कराहट प्रकट की ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगं कोकनदेन नैषधः ।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद्गिरः प्रियवादामृत-कूप-कण्ठजाः ॥५०॥

परिमृज्येति । निषधानां राजा **नैषधः** = नलः । जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् । भुजाग्रजन्मना **कोकनदेन** = पाणिशोणपङ्कजेनेत्यर्थः । **पतगं**=हंसं **परिमृज्य** तस्य = हंसस्य तथा **मुदे** = हर्षाय [**प्रियवादाऽमृत-कूप-कण्ठजाः**] प्रियवादा-नामेवामृतानां कूपो निधिः कण्ठो वागिन्द्रियं तज्जाः तज्जन्याः, गिरो मृदु यथा तथा । **अगिरत्** = प्रियवाक्यामृतैरसिञ्चदित्यर्थः । अत्र भुजाग्रजन्मना कोकनदेनेति विषयस्य पाणेर्निगरणेन विषयिणः कोकनदस्यैवोपनिबन्धनात् अतिशयोक्तिः । 'विष-यस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिसम्मता' इति लक्षणात् । सा च पाणिकोकनदयोरभेदोक्तिः अभेदरूपा । यस्याः प्रियवादामृत-कूपकण्ठेति रूपकसंसृष्टिः ॥५०॥

निषधाधिपति नल ने लाल-कमल-रूप--भुजा के अगले भाग में उत्पन्न हुए--हाथ से, उस हंस को सहला कर, उस के प्रमोद के लिए, स्नेहमय वचनरूपी अमृत के कूप रूपी कण्ठ से निकली हुई, कोमल वाणी कही--॥५०॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रकसारमुद्रणा ॥५१॥

न तुलेति । हे हंस ! **तव आकृतिः**=आकारः, **तुलाविषये** = सादृश्यभूमौ न वर्त्तते, असदृशीत्यर्थः । **ते** = तव, **सुशीलता** = सौशील्यं **वचो वर्त्मनि** न वर्त्तते, वक्तुमशक्येत्यर्थः । अत एव **आकृतौ गुणाः** = 'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः' इति

[सामुद्रक-सार-मुद्रणा] सामुद्रिकाणां या सारमुद्रणा सिद्धान्तप्रतिपादनं सा, त्वमेवोदाहरणं यस्याः सा तथोक्ता । आकृतिसौशील्ययोस्त्वय्येव सामानाधिकरण्यदर्शनादित्यर्थः । अत एवोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात् ॥५१॥

तुम्हारा स्वरूप किसी की तुलना का विषय नहीं है (अर्थात् किसी के साथ तुम्हारे सौन्दर्य की उपमा नहीं दी जा सकती), और तुम्हारी सुशीलता (सुन्दर स्वभाव) भी वाणीपथ का विषय नहीं है (अर्थात् वर्णनातीत है) । 'जहाँ आकृति होती है, वहीं गुण रहते हैं' – सामुद्रिकशास्त्र के सारांश के मुद्रण (प्रतिपादित सिद्धान्त) के तुम्हीं उदाहरण हो ॥५१॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा ।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥५२॥

न सुवर्णेति । ननु हे हंस ! तवेयं **तावकी** । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इति चकारादण् प्रत्यये ङीप् । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । **तनुः परं** मूर्तिरेव **सुवर्णमयी** हिरण्मयी **न** । किं तु **वागपि तथा** = सुवर्णमयी, शोभनाक्षरमयीत्यर्थः । **अनवलम्बे** = निरवलम्बे **पथि परम्** = आकाश एव **पक्षपातिता** = पक्षपातित्वं **न** । **किमु**=किंत्वित्यर्थः । निपातानामनेकार्थत्वात् । अनवलम्बे निराधारे **मादृशेऽपि सा** = पक्षपातिता, स्नेहवत्तेत्यर्थः । अत्र तनुवाचोः प्रकृताप्रकृतयोः सुवर्णमयीति शब्दश्लेषः एवं पथि मादृशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसंसृष्टिः । तया चोपमा व्यज्यते ॥ ५२ ॥

हे हंस ! तुम्हारी आकृति ही केवल सुवर्ण-मयी (सोने की) नहीं है; किन्तु तुम्हारी वाणी भी उसी प्रकार सुवर्ण-मयी (सुन्दर वर्ण-अक्षर-मयी) है । अवलम्बन-शून्य गगन-मार्ग में ही केवल तुम्हारा पक्ष-पात (पंखों से उड़ना) नहीं है; पर यह स्पष्ट है कि मुझ जैसे आश्रयहीन व्यक्ति के प्रति भी तुम्हारा पक्ष-पात (अनुकूल आचरण) है ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान् मरुदासादि तुषारसारवान् ।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत् सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

भृशेति । भृशतापभृता=अतिसन्तापभाजा **मया भवान्** [**तुषार-सारवान्**] तुषारैः शीकरैः, सारः आधिक्यं तद्वान् **मरुत्** = मारुतः सन् , **आसादि**, सन्तापहरत्वादिति

भावः। तथा हि—धनिनां = धनिकानां कुबेरादीनाम् इतरः = पद्मशंखादिः। संख्यासौ निधिश्चेति सन्निधिः, सतां=विदुषां पुनः [गुणवत् सन्निधिः] गुणवतां गुणिनां सन्निधिः सान्निध्यमेव सन्निधिः महानिधिः, सन्तापहारित्वात् त्वमेव शिशिर-मारुतः, अन्यस्तु दहन एवेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः। लक्षणं तूक्तम् ॥ ५३ ॥

काम-ज्वर से अत्यन्त सन्तप्त हुए मुझे—तुम बरफ की बनौरी मिली हुई (अत्यन्त शीतल) हवा के रूप में मिले। धनियों की (शङ्ख, पद्म आदि निधि रूप आनन्ददायक) सन्निधि (खजाना) दूसरी है; पर सज्जनों की तो गुणवानों की सन्निधि (समागम) ही सन्निधि (श्रेष्ठ खजाना) है ॥ ५३ ॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिमम।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

शतश इति। [त्रिजगन्मोहमहौषधिः] त्रिजगतः त्रैलोक्यस्य, मोहे सम्मोहने, महौषधिः महौषधमिति रूपकम्। सा = दमयन्ती **शतशः मम श्रुतिं** = श्रोत्रम् **आगतैव। अधुना तव शंसितेन** = कथनेन **तु स्वदृशा** = मम दृष्ट्या एवाधिगतां=दृष्टाम् **अवैमि**=साक्षाद् दृष्टां मन्ये। आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भावः ॥

त्रिलोकी के (युवकों के) मोहित करने की महौषधिरूप दमयन्ती (का नाम) मेरे कानों में सैकड़ों बार आयी रही (अर्थात् उसके सौन्दर्य का वर्णन सुना था); परन्तु अभी-अभी तुमने जो उसके (नख-शिख पर्यन्त) सौन्दर्यगुणों का वर्णन किया, उससे तो मैंने साक्षात् उसे अपनी आँखों से देख लिया—ऐसा मानता हूँ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह—**अखिलमिति**। **सुहृदा** = आप्तमुखेन च **स्वहृदा** = स्वान्तःकरणेन **च** सुहृत् ग्रहणं तद्वत्सुहृदः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थम्। **अखिलं** = कृत्स्नमर्थम् **अनाविलम्**=असन्दिग्धं अविपर्यस्तं यथा तथा **पश्यताम्**= अवधारयतां **विदुषां** = विवेकिनां **सविधे** = पुरोऽपि **न सूक्ष्मसाक्षिणी** = असूक्ष्मार्थदर्शिनी। 'सुप्सुपा' इति समासः। **अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्र**, न तु दूरसूक्ष्मार्थदर्शनोपयोगिनीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

(परम विश्वसनीय) सुहृद के द्वारा और अपने अन्तःकरण से सब पदार्थों को स्पष्टरूप से ('वाक्य' तथा 'अनुमान' द्वारा) देखनेवाले (निर्णय करनेवाले)

विवेकी पुरुषों के (चम-) चक्षु तो मुखमण्डल के अलङ्कार-मात्र हैं, क्योंकि वे सन्निकट की सूक्ष्म वस्तु भी नहीं देख सकते ॥ ५५ ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणिकीकृता जनैः ।
मदनानलबोधनेऽभवत् खग ! धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

अमितमिति । हे खग ! **जनैः** = विदर्भागतजनैः मम **श्रवणप्राघुणिकीकृता** = कर्णातिथीकृता, तद्विषयीकृतेत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणिक आगन्तुरतिथिस्तथा' इति हलायुधः । **अमितम्** = अपरिमितं **मधु** = क्षौद्रं, तद्वदतिमधुरेत्यर्थः । **तत्कथा** = तद्गुणवर्णना, **अधैर्यधारिणः** = अत्यन्ताधीरस्य मम **मदनानलबोधने** = मदनाग्निप्रज्वलने **धाय्या** = सामिधेनी अभवत् । 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' इत्यमरः । 'पाय्यसान्नाय्य' इत्यादिना निपातः । धिक् वाक्यार्थो निन्द्यः । अत्र तत्कथायाः धाय्यात्मना प्रकृतमदनाग्नीन्धनोपयोगात् परिणामालङ्कारः । आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥५६॥

हे हंस ! (विदर्भ देश से आये हुए) नागरिकों ने, अपरिमित मधु के समान (अति मधुर) दमयन्ती की कथा को, मेरे कानों का अतिथि बनाया है । जो (मधुर कथा) मेरी कामाग्नि प्रज्वलित करने में सामिधेनी ऋचा हो गयी (जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित करने में समर्थ ऋचा, अग्नि प्रज्वलित कर देती है, उसी तरह दमयन्ती की मधुर कथा मेरी कामाग्नि प्रज्वलित करने में समर्थ हो जाती है) । मुझ जैसे अधीर धारण करने वाले कामातुर पुरुष को धिक्कार है ॥५६॥

विषमो मलयाहिमण्डली-विषफूत्कारमयो मयोहितः ।
बत कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा ॥ ५७ ॥

विषम इति । **विषमः** = प्रतिकूलः **कालकलत्रदिग्भवः** = यमदिग्भवः, प्राणहर इति भावः । **पवनः** = दक्षिणमारुतः, **तद्विरहानलैधसा** = दमयन्तीविरहाग्निसमिधा, तदाधेनेत्यर्थः । **मया** [**मलयाहिमण्डली-विषफूत्कारमयः**] मलये मलयाचले, या अहिमण्डली सर्पसङ्घः, तस्याः विषफूत्कारमयः, **ऊहितः** = तद्रूप इति तर्कित इत्यर्थः । लोके च अग्निरेधांसि फूत्कारवातैर्ध्मायत इति भावः । बत इति खेदे । विरहानलैधसेति रूपकोत्थापितेयं दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५७ ॥

यमराज की भार्या की दिशा [अर्थात् प्राणान्तकारिणी दक्षिण दिशा] से

उत्पन्न, दक्षिणानल को--हाय ! दमयन्ती की वियोगाग्नि की सामीप्यरूप में,--(दक्षिण के) मलय-पर्वत पर रहने वाले सर्प-समूहों की जहरीली फुफकारों से भराहुआ--असह्य (सन्तापकारी) मानता हूँ ॥५७॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ॥ ५८ ॥

प्रतिमासमिति । हे **खग** ! **असौ निशाकरो** मासि मासि **प्रतिमासं** = प्रतिदर्शमित्यर्थः । वीप्सायामव्ययीभावः । **दिनाधिपं** = सूर्यं **संगच्छति** = प्राप्नोतीति यत् । **ततः** = प्राप्तेः **स** = निशाकरः **तीव्रतरै**स्त एव **धैर्यतस्करैर्मम** = धैर्यहारिभिः **करैः** = सौरैः तत आनीतैः **मम दाहाय** संगच्छतीत्यनुषङ्गः । **किमु**शब्द उत्प्रेक्षायाम् । अत्र सङ्गमनस्य दाहार्थत्वोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा ॥५८॥

हे हंस ! यह चन्द्रमा जो प्रतिमास (अमावास्या के दिन) सूर्य में प्रवेश करता है तो इसी (सूर्य के सम्पर्क के) कारण ही, उसकी अति तीक्ष्ण और धैर्य का अपहरण करनेवाली किरणों द्वारा मुझे जला रहा है-- ऐसा मेरा अनुमान है, (क्योंकि चन्द्र-किरण तो शीतल होती है) ॥५८॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत् ।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन् ॥५९॥

कुसुमानीति । **स्मरेषवः** यदि **कुसुमान्येव वज्रम्** = अशनिः **न तु**, कुसुमानीति । **स्मरेषवः** यदि कुसुमान्येव **वज्रम्** = अशनिः न तु, किन्तु **विषवल्लिजानि** = विषलतोत्पन्नानि । **यत्** = अस्माद् **अमूः** = स्मरेषवः । 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इति स्त्रीलिङ्गता, **मम हृदयममूमुहन्** = अमूर्च्छयन् । मुह्यतेर्णौ चङ् । **यच्च** यस्माद् **अतितमाम्**=अतिमात्रम् । अव्ययादामुप्रत्ययः । **अतीतपन्**=तापयंति स्म । तपतेर्णौ चङ् । मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शनाद्विषवल्लिजत्वोत्प्रेक्षा ॥५९॥

कामदेव के बाण (लोकप्रसिद्धि के अनुसार) यदि फूल ही हैं, वज्र नहीं हैं; तो वे फूल (साधारण पुष्प नहीं, प्रत्युत) विष-बेलि से उत्पन्न हुए हैं; क्योंकि उन्होंने मेरे हृदय को (दमयन्ती के) मोह में डाल दिया है और इसी लिए उस (हृदय) को खूब सन्तप्त करते रहते हैं (साधारण पुष्पों में दाहिका शक्ति नहीं होती)॥

तदहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ ।
भव पोत इवावलम्बनं विधिनाऽऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

तदिति । तत्=तस्माद् इह=अस्मिन् अनवधौ=अपारे [कन्दर्प-शराधि-नीरधौ] कन्दर्पशरैर्य आधिर्मनोव्यथा । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे, निमज्जतः=अन्तर्गतस्य मम विधिना=दैवेन । [आकस्मिक-सृष्ट-सन्निधिः] अकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकम् । अध्यात्मादित्वात् ठक् । अव्ययानां भमात्रे टिलोपः । तद्यथा तथा सृष्टः कृतः सन्निधिः सन्निधानं यस्य सः । भाग्यादागत इत्यर्थः । त्वं पोतः=यानपात्रम् इव । 'यानपात्रं तु पोतः' इत्यमरः । अवलम्बनं भव ॥ ६० ॥

अतः जिस प्रकार समुद्र में डूबते हुए व्यक्ति को, दैवयोग से कहीं से जहाज बनकर, उसके समीप पहुँच जाय और उसका सहायक हो जाय उस प्रकार, पूर्व-वर्णित अथाह कामवाण-जन्य मानसी-व्यथारूपी सागर में डूबते हुए मुझको—तुम दैवयोग से अचानक कहीं से जहाज के रूप में आये और अब (दमयन्ती के मिलने में) सहायक होओ ॥ ६० ॥

> **अथ वा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ।**
> **स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥**

अथवेति । **अथवा** इयं **नः**=अस्माकं सम्बन्धिनी । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति नियमात् कर्तरि कृद्योगे षष्ठीनिषेधेऽपि शेषषष्ठीपर्यवसानात् कर्त्रर्थलाभः । **भवतः** । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति षष्ठी । **प्रवर्त्तना** प्रेरणा ण्यासश्रन्थो युच् । कथं **पिष्टं न पिनष्टि,** स्वतः प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः । **हि**=यस्माद् **ग्रहणानां**=ज्ञानानां **यथार्थता**=याथार्थ्यं **यथा** प्रामाण्यमिव, **स्वतः** सर्वप्रमाणानां प्रमाण्यमिव, 'गृह्यतां जाता मनीषा स्वत एव मानम्' इति मीमांसकाः । **सतां परार्थता**=परार्थ-प्रवृत्तिः **स्वत एव,** न तु परतः । उपमा-संसृष्टोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

अथवा, क्या आपको प्रेरित करनेवाली यह मेरी प्रार्थना पिष्ट-पेषण नहीं है ? क्योंकि सत्पुरुषों की परोपकारिता स्वतः (अपने आप) ही है; जैसे ज्ञान की यथार्थता (प्रामाणिकता) स्वतः होती है (अथवा, जैसे इन्द्रियों की यथार्थता स्वतः पदार्थ-ग्राहकता है) ॥ ६१ ॥

> **तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।**
> **अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ! ॥ ६२ ॥**

तवेति । हे वयः ! तव **वर्त्मनि शिवं**=मङ्गलं **वर्त्ततां, त्वरितं**=

क्षिप्रमेव पुनः समागमोऽस्तु । ... साधय= सम्पादय; समये=कार्यकाले वयं स्मरणीयाः; अनन्यगामि कार्यं कुर्या इत्यर्थः ॥

हे हंस ! मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो; फिर शीघ्र तुम्हारा समागम हो । जाओ, मेरे अभीष्टकार्य को पूरा करो और उपयुक्त समय पर मेरा स्मरण करना ॥

इति तं स विसृज्य धैर्यवान् नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः ॥६३॥

इतीति । धैर्यवान्=उपायलाभात् सधैर्यः [सूनृतवाग्बृहस्पतिः] सूनृतवाक् सत्यप्रियवादेषु बृहस्पतिः तथा प्रगल्भ इत्यर्थः । 'सूनृतं च प्रिये सत्यम्' इत्यमरः । स नृपतिः इति=इत्थं तं=हंसं विसृज्य श्रुतिलग्नैः=श्रोत्रप्रविष्टैः [कलहंसशंसितैः] कलहंसस्य शंसितैर्विस्मितः सन् वनवेश्म=वनविहार गृहम् अविशत ॥६३॥

कान में पड़े हुए, राजहंस के कहे हुए वाक्यों से विस्मित हो, सत्य तथा प्रिय बात कहने में बृहस्पति के समान राजा नल ने—इस प्रकार उस हंस को विदा करके–(दमयन्ती के मिलन पर) धैर्यवान् हो, उद्यान-भवन में प्रवेश किया ॥

अथ भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुमहस्तदेव सः ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥६४॥

अथेति । अथ सोऽण्डजः=हंसः तत् एव अहः [भीमसुतावलोकनैः] भीमसुतायाः भैम्याः अवलोकनैः, सफलं कर्तुं तस्मिन्नेव दिने, तां द्रष्टुमित्यर्थः । [क्षितिमण्डलमण्डनायितं] क्षितिमण्डलस्य मण्डनायितमलङ्कारभूतं कुण्डिनं= कुण्डिनाख्यं नगरं ययौ ॥६४॥

तत्पश्चात् वह हंस—भीमराजकुमारी दमयन्ती के दर्शन से (अपने नेत्रों को) सफल बनाने के लिए, भूमण्डल के अलङ्कार के समान कुण्डिनपुर को, उसी दिन रवाना हुआ ॥६४॥

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलशं जलसंभृतं पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥६५॥

अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह-प्रथममित्यादिना । स कलहंसः प्रथमम् =आदौ पथि=मार्गे लोचनातिथिं=दृष्टिविषयं पथिकानां प्रस्थातॄणां, प्रार्थितस्य

इष्टार्थस्य, सिद्धिशंसिन सिद्धिसूचकं, जलसम्भृत = जलपूर्ण कलशं = पूर्णकुम्भं पुरः = अग्रे कलयाम्बभूव = ददर्श ॥६५॥

उस राजहंस ने राह में पहले-पहल, यात्रियों के अभिलषित मनोरथों की सिद्धि की सूचना देनेवाले, सामने से आते हुए जलपूर्ण कलश को देखा ॥६५॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालसङ्गतम् ॥६६॥

अवलम्ब्येति । स = हंसो **दिदृक्षया** = स्वगन्तव्यमार्गालोकनेच्छया **अम्बरे क्षणम्** [**आश्चर्यरसालसं**] आश्चर्यरसेन तद्वस्तु दर्शननिमित्तेन अद्भुतरसेन, अलसं मन्दं, **गतं**=गतिम् **अवलम्ब्य अवनीभृतः**=नलस्य **विलासवने**=विहारवने [**रसाल-सङ्गतं**] रसालेन चूतवृक्षेण, सङ्गतं सम्बद्धम् । 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ' इत्यमरः । **फलम् ऐक्षिष्ट** = दृष्टवान् ॥६६॥

राजहंस ने (विलास-कानन के) देखने की इच्छा से, आकाश में क्षणभर तक, आश्चर्य-रस के कारण मन्द गति का आश्रय लेकर, राजा नल के क्रीडा-उद्यान में, आम्र के पेड़ में लटकता हुआ आम का फल देखा ॥६६॥

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितर-क्षुपन्नगम् ।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटप-च्छन्न-तरक्षु-पन्नगम् ॥६७॥

नभस इति । पुमान् गौः वृषभः, विशेषणसमासः । 'गोरतद्धितलुकि' इति समासान्तष्टच् । स इव **पतङ्गपुङ्गवः** = पक्षिश्रेष्ठः उपमितसमासः । **स नभसः कलभैः**=खेचरकरिकल्पैरित्यर्थः । **जलदैरुपासित**=व्याप्तं । [**भूरितर-क्षुपन्नगम्**] भूरयः बहवस्तरक्षवो मृगादनाः पन्नगा यस्य तम् । [**विटप-च्छन्न-तरक्षु-पन्नगम्**] विटपैः शाखाविस्तारेण । 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । छन्नतराः अतिशयेन छादिताः, क्षुपा ह्रस्वशाखाः । 'ह्रस्वशाखाशिफः क्षुपः' इत्यमरः । यस्य तम् । नगं पर्वतं **ददर्श** । पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्थक्षेमकरमिति निमित्तज्ञाः ॥६७॥

पक्षिश्रेष्ठ हंस ने—आकाश के कलभ (हाथी के बच्चों) के आकार के (काले-काले) मेघों से व्याप्त और बहुत सी झाड़ियों से शोभायमान एक पहाड़ को देखा—जिसके पेड़ों की शाखाओं में लकड़बग्घा और सर्प छिपे हुए थे ॥६७॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः ।
विततिक्षितनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः ॥६८॥

स इति । स = हंसः क्षण धुतपक्षतिः = कम्पितपक्षमूलः क्षण [ऊर्ध्वाय-नदुर्विभावनः] ऊर्ध्वायनेन ऊर्ध्वगमनेन, दुर्विभावनो दुष्करावधारणो दुर्लक्ष्य इत्यर्थः । [विततीकृतनिश्चलच्छदः] विततीकृतौ विस्तारीकृतौ निश्चलौ छदौ पक्षौ यस्य सः तथा क्षणम् [आलोककदत्तकौतुकः] आलोककानां द्रष्टॄणां, दत्त-कौतुकः सन्, ययौ । स्वभावोक्तिः ॥६८॥

वह हंस कुछ देर तक अपने पंखों को फड़फड़ाता, फिर कुछ देर तक बहुत ऊँचाई पर उड़ने से अलक्ष्य हो जाता, बाद में कुछ देर तक अपने दोनों पंखों को निश्चल फैलाकर उड़ता—इस प्रकार दर्शकों को तमाशा देखाता हुआ (कुण्डिनपुर की ओर) चला ॥६८॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ ।
छदहेम कषन्निवालसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥६९॥

तन्विति । असौ = हंसो रयात् हेतोः उत्पन्नयेति शेषः । [लोकविलोकनां] गतया = कौतुकाद्दूर्ण-लोकस्य आलोकिजनस्य, परीक्षकजनस्य च, विलोकनां दर्शनं, गतया तन्वा परीक्षां च विलोक्यमानयेत्यर्थः । [तनुदीधितिधारया] तनोः शरीरस्य, तन्वा सूक्ष्मया च, दीधितिधारया रश्मिरेखया निमित्तेन । कषपाषाणनिभे = निकषोपल-सन्निभे नभस्तले छदहेम = निजपक्षसुवर्णं कषन् = घर्षन् इव अलसत् = अशो-भतेत्युत्प्रेक्षा ॥६९॥

वह हंस वेग के कारण लोगों के दृष्टिगोचर हुए, अपने शरीर के (पीले रंग की पतली रेखा के) प्रभा-प्रवाह के कारण ऐसा शोभित हुआ, मानों कसौटी के समान (नीले रंग के) आकाश में पंख के सोने को कस (जाँचने के लिए घिस) रहा हो ॥६९॥

विनमद्भिरधःस्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः ।
स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यद-सांकारि-पतत्र-पद्धतिः ॥७०॥

विनमद्भिरिति । [स्यद-साङ्कारि-पतत्र-पद्धतिः] स्यदेन वेगेन, सांका-रिणी सामिति शब्दं कुर्वाणा, पतत्रिपद्धतिः पक्षिसरणिर्यस्य-स = हंसः [श्येन-निपात-शङ्किभिः] श्येननिपातं शङ्कत इति तच्छङ्किभिः अत एव विनमद्भिः = विलीयमानैः अधःस्थितैः खगैः झटिति = द्राक् एकया दृशा उपरि निरैक्षि = निरीक्षितः । कर्मणि लुङ् । स्वभावोक्तिः ॥ ७० ॥

उस से नीचे उड़ते हुए पक्षियों ने—बाज के झपटने की आशङ्का से, एकही नज़र से, झट ऊपर की ओर उस राजहंस की तरफ देखा—जिसके दोनों पंखों में से वेग के कारण साँय साँय की आवाज़ निकल रही थी ॥ ७० ॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥७१॥

ददृश इति । **यन्** = गच्छन् । इणो लटः शत्रादेशः । **असौ** = हंसः, **भुवि तच्छायं** = तस्य हंसस्य च्छायां । 'विभाषा सेना' इत्यादिना नपुंसकत्वम् । **अवेक्ष्य तत्क्षणात्** प्रथमं **दिवि** पश्चात् **दिक्षु** च **वितीर्णचक्षुषा** = दत्तदृष्टिना **जनेन** [**पृथु-वेग-द्रुत-मुक्त-दृक्पथः**] पृथुवेगेन द्रुतं शीघ्रं मुक्तदृक्पथः सन्, **न ददृशे** = न दृष्टः, क्षणमात्रेण दृष्टिपथमतिक्रान्त इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

पृथ्वी पर उसकी छाया देख कर, उसी क्षण आकाश और दिशाओं की ओर नज़र फेंकते हुए लोगों को—तेज चाल के कारण—शीघ्र ही दृष्टिमार्ग से ओझल हो जाने वाला, उड़ता हुआ वह हंस नहीं दिखलाई पड़ता ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतर-द्रु-चारुतम् ।
न स गोत्रजमन्ववादि वा गति-वेग-प्रसरद्रुचा रुतम् ॥७२॥

नेति । [**गतिवेग-प्रसरद्रुचा**] गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पत्तेजसा, **अमुना** =हंसेन **पथि क्वचिदपि** [**उच्चतर-द्रु-चारुतं**] उच्चतराणां अत्युन्नतानां द्रूणां द्रुमाणां, चारुता रम्यता, यस्मिस्तत् । **वनं न शिश्रिये** । **सगोत्रजं** = बन्धुजन्यं **रुतं** = कूजितं **वा नान्ववादि** = नानूदितम् । मध्यमार्गे अध्वश्रमापनोदनं बन्धुसम्भाषणादिकमपि न कृतमिति सुहृत्कार्यानुसन्धानपरोक्तिः । 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

अपनी तेज चाल से कान्ति फैलाता हुआ वह हंस—मार्ग में कहीं भी बड़े ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से सौन्दर्यशाली वनमें, (विश्राम करने के लिए) न ठहरा और न तो अपने स-जातीय हंसों के कूजन (के प्रत्युत्तर में उस) का अनुमोदन ही किया ।

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हर-शैलोपम-सौध-राजिता ॥ ७३ ॥

अथेति । **अथ धराजिता** = भूमिजयिना । 'सत्सु द्विष' इत्यादिना क्विपि तुक् । [**भीमभुजेन**] भीमस्य भीमभूपस्य, भुजेन पालिता, [**हर-शैलोपम-सौध-**

[राजिता] हरशैलोपमैः सौधैः राजसदनैः, राजिता, मञ्जुमनोज्ञा असौ = पूर्वोक्ता नगरी = कुण्डिनपुरी पतगस्य = हंसस्य दृक्पथं जगाम = स तां ददर्शेत्यर्थः। अत्र यमकाख्यानुप्रासस्य हिमशैलोपमेति उपमायाश्च संसृष्टिः॥ ७३॥

तदनन्तर पृथ्वी-विजेता भीमराजा की भुजाओं से पालित, सुन्दर, कैलास पर्वत के समान (सफेदी से धवल), राज-प्रासादों से सुशोभित (कुण्डिन) नगरी उस हंस के दृष्टिगोचर हुई॥ ७३॥

दयितं प्रति यत्र सन्तता रतिहासा इव रेजिरे भुवः।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः॥७४॥

तां वर्णयति—दयितमिति। यत्र = नगर्यां, स्फटिकोपलविग्रहाः = स्फटिकमयशरीरा इत्यर्थः। अत एव शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः = शशाङ्कशकलनिष्कलङ्कानि कुड्यानि येषां ते। 'भित्तं शकलखण्डे वा' इत्यमरः। भिदेः क्विप्प्रत्ययः। 'भित्तं शकलम्' इत्यादि निपातनात् 'रदाभ्याम्' इत्यादिना निष्ठानत्वभावः। गृहाः दयितं = भीमं प्रति सन्तता भुवः = भूमेर्नायिकायाः, रतिहासाः = केलिहासा इव रेजिरे। इत्युत्प्रेक्षा॥ ७४॥

जिस नगरी में बिल्लौर के बने हुए शरीर वाले, चन्द्रमा के टुकड़े की भाँति (जड़ी हुई मणियों से) निष्कलङ्क दीवाल वाले घर—अपने प्राणवल्लभ के प्रति निरन्तर किये गये, पृथ्वी-नायिका के रतिकाल के समय के (मन्द) हास्य के समान—शोभायमान हो रहे थे॥ ७४॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेर्यत्र भयेन भास्वतः।
शरणार्थमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः॥७५॥

नृपेति। यत्र=नगर्यां तमः=अन्धकारः भास्वतः=भास्करात् भयेन [नृप-नीलमणी-गृह-त्विषाम्] नृपस्य ये नीलमणीनां गृहाः, तेषां त्विषः, तासां उपधेः= कृदादित्यपह्नवभेदः। 'रत्नं मणिर्द्वयोः' इत्यमरः। कृदिकारादक्तिनः इति ङीष्। शरणार्थं शरणं गृहं रक्षितारमन्वागतम्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। वासरे = दिवसेऽप्यसदावृत्ति=अपुनरावृत्ति किञ्च उदयत्तमम्=उद्यत्तमं सद् उवास॥७५॥

उस नगरी में नीलम मणि के बने हुए, राजमहलों की कान्ति के बहाने, अतिशय गहन अन्धकार, मानो सूर्य के भय से सदा एक भाव से विद्यमान, घर के भीतर आकर (ऐसा रक्षक पाकर) 'दिन' में भी रहता था॥ ७५॥

सित-दीप्र-मणि-प्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि ।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥७६॥

सितेति । [सित-दीप्र-मणि-प्रकल्पिते] सितैः दीप्रैश्च मणिभिः प्रकल्पिते = उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते हसदङ्करोदसि = विलसदङ्करोदस्के, द्यावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थः । यदगारे = यस्या नगर्या गृहेष्वित्यर्थः । जातावेकवचनम् । निशि निखिलान् तिथीन् एकिका = एकाकिनी, एकैवेत्यर्थः । 'एकादाकिनच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः । 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य' इतीकारः । पूर्णिमा तिथिः = राकातिथिः । 'तदाद्यास्तिथयो द्वयोः' इत्यमरः । अतिथिः सन् उपतस्थे = अतिथिर्भूत्वा सङ्गतेत्यर्थः । 'उपाद्देवपूजा' इत्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम् । स्फटिकभवनकान्तिनित्यकौमुदीयोगात् सर्वा अपि रात्रयो राकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥७६॥

उस नगरी के सफेद और दीप्तिशाली (स्फटिक) मणि के बने हुए, आकाश एवं पृथ्वी के बीच के हँसते हुए (प्रकाशमान) भाग वाले—भवनों में, 'रात्रि' के समय, अकेली पूर्णिमा तिथि, सब तिथियों के पास, अतिथि होकर आती थी (अर्थात् स्फटिक मणि के बने हुए विशाल तथा गगनचुम्बी भवनों की शुभ्र चमक से, आकाश से लेकर धरातल के बीच का भाग, रात्रि में चन्द्रकिरण से सम्पर्क पाकर, जगमगाता रहता था; जिस से अमावास्या आदि तिथियों में भी अन्धकार का अभाव रहता था और लोग सब रात को पूर्णिमा की ही रात समझते थे) ॥

सुदतीजन-मज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया ।
न निशाखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥७७॥

सुदतीति । यत्र = नगर्यां [सुदतीजन-मज्जनार्पितैः] शोभना दन्ता यासां ताः सुदत्यः स्त्रियः । अत्रापि विधानाभावाद्दत्रादेशश्चिन्त्य इति केचित् । 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च' इति चकारात् सिद्धिरित्यन्ये । सुदत्यादयः स्त्रीषु योगरूढाः, 'स्त्रियां संज्ञायाम्' इति, दत्रादेशात् साधव इत्यपरे । तदेतत्सर्वमभिसन्धायाह वामनः—'सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः' इति । ता एव जना लोकाः तेषां मज्जनादवगाहनादर्पितैः क्षालितैः, घुसृणैः = कुङ्कुमैः कषायिताशया = सुरभिताभ्यन्तरा भोगचिह्नैः कलुषितहृदया च । [illegible] = दीर्घिका ग्रहिला = ग्रहः । 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धौ' इति विश्वः । तद्वती दीर्घरोषा । पिच्छादित्वादिलच् दिवादिः ।

मानिनी 'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युक्तलक्षणो मानः । युवती नायिका इव अखिलया निशा = निशया, सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थः । न प्रसाद = प्रसन्नहृदया नाभूत्, तादृक् क्षोभादिति भावः ॥७७॥

उस नगरी की बावलियाँ--सुन्दर दाँतवाली महिलाओं के जलविहार के समय आलिङ्गन के कारण, कुङ्कुम के रंग से कषायित (लाल रंग से युक्त, सुगन्धि से युक्त,) मध्यभागवाली हो जाती थीं और सारी रात बीत जाने पर भी उसी प्रकार प्रसन्न (निर्मल) नहीं होती थीं ('लाल' ही बनी रहती थीं) जैसे अन्य रमणियों में अनुराग होने के कारण, पति के अवयव में लगे हुए कुंकुम आदि भोगचिह्नों को देखकर, ईर्ष्या से कलुषित हृदयवाली हो, हठ पकड़ने वाली मानिनी नायिका समूची रात बीत जाने पर भी प्रसन्न नहीं होती (रोषयुक्ता ही बनी रहती है)॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया ।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते ॥७८॥

क्षणेति । **निशि**=निशीथे [**क्षणनीरवया**] क्षणं नीरवया एकत्र सुप्तजनात्वाद्, अन्यत्र ध्यानस्तिमितत्वान्निःशब्दया [**श्रितवप्रावलियोगपट्टया**] श्रितः प्राप्तः वप्रावलिः योगपट्ट इव, अन्यत्र वप्रावलिरिव योगपट्टो यया सा तथोक्ता, **यया** = नगर्या **मणिवेश्ममयं** तद्रूपं **निर्मलं अबाह्यम्** = अन्तर्वर्ति **किमपि** = अवाङ्मनसगोचरं **ज्योतिः** = प्रभा, आत्मज्योतिश्च । **ईक्ष्यते** = सेव्यते स्म । अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीतेः समासोक्तिः ॥७८॥

मध्य रात्रि में (सबलोगों के सो जाने के कारण) नीरवता को प्राप्त हो, वप्रावली (प्राकार-पंक्ति) रूप योगपट्ट (योगाभ्यास काल में गेरुआ वस्त्र) धारण करने वाली कुण्डिन नगरी, रात्रि के समय अबाह्य (परकोटे के भीतर) रत्न (स्फटिकादि मणि) निर्मित गृहरूप निर्मल (भव्य) और (अलौकिक सौन्दर्य के कारण) अवर्णनीय ज्योति (तेज, छटा) को उसी प्रकार प्राप्त होती थी; जिस तरह आधी रात के समय ब्रह्मसाक्षात्कार काल में, ध्यान के कारण निःस्तब्ध हो कोई योग-साधिका रात्रि में अबाह्य (हृत्पुण्डरीक के भीतर), निर्मल (अविद्यादि दोष रहित) किसी अनिर्वचनीय (वाणी तथा मन से परे) ज्योति (परम ब्रह्म) का साक्षात्कार करती है ॥७८॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या ।

परिखा-कपट-स्फुट-स्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥७९॥

विललासेति। या = नगरी [परिखा कपट-स्फुट-स्फुरत् प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि] परिखायाः कपटेन व्याजेन, स्फुटं परितो व्यक्तं, तथा स्फुरता प्रतिबिम्बेनावलम्बितं, मध्ये चागृह्यमाणं चाम्बु यस्मिन् तस्मिन्। प्रतिबिम्बाक्रान्तमम्बु परितः स्फुरति, प्रतिबिम्बदेशे न स्फुरति तेनैव प्रतिबिम्बादिति भावः। क्वचन = कुत्रचिज्जलाशयोदरे = ह्रदमध्ये, कस्यचित् ह्रदस्य मध्य इत्यर्थः। अनुबिम्बिता = प्रतिबिम्बिता द्यौः=अमरावती इव विललास, इत्युत्प्रेक्षा ॥७९॥

यह नगरी—(अपने चारो स्थित) खाईं के जल के बहाने स्पष्टरूप से (देवपुरी की) प्रतिबिम्ब स्वरूप और (उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत होने के कारण कहीं कहीं परिछाहीं नहीं पड़ रही थी अतः) अनाक्रान्त जल वाले, किसी सरोवर के भीतर प्रतिबिम्बित—स्वर्गपुरी के समान शोभायमान प्रतीत हो रही थी (अर्थात् वह नगरी इस प्रकार प्रतिभासित हो रही थी मानो किसी जलाशय के भीतर ऊपरस्थित स्वर्गपुरी की ही परिछाईं पड़ रही हो। यह नगरी स्वर्गपुरी से भी अधिक बड़ी थी, इसलिए उसके समूचे खाईं के जल में स्वर्ग की परिछाईं नहीं पड़ रही थी; शेष भाग उसी प्रकार अनाक्रान्त रह जाता था, अतः वही बाहरी खाईं का जल मालूम पड़ रहा था) ॥७९॥

व्रजते दिवि यद्गृहावली-चल-चेलाञ्चल-दण्ड-ताडनाः।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलि-हयालि-कालनाम् ॥ ८० ॥

व्रजत इति। [यद्गृहावली-चल-चेलाञ्चल-दण्ड-ताडनाः] यस्यां नगर्यां गृहावलीषु चलाः चञ्चलाः चेलाञ्चलाः पताकाग्राणि ता एव दण्डास्तैः ताडनाः कशाघाता इत्यर्थः। ताः कर्त्र्यो दिवि व्रजते = खे गच्छते [हेलि-हयालि-कालनाम्] हेलिहयालेः सूर्याश्वपङ्क्तेः। 'हेलिरालिङ्गने रवौ' इति वैजयन्ती। कालनां चोदनां सृजते = कुर्वते अरुणाय = सूर्यसारथये विश्रमं = स्वयं तत्कार्यकरणाद्विश्रान्तिम्। 'नोदात्तोपदेश' इत्यादिना घञि वृद्धिप्रतिषेधः। व्यतरन् = ददुः। अत्र हेलिहयालेश्चेलाञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। तेन गृहाणामर्कमण्डलपर्यन्तमौन्नत्यं व्यज्यत इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥८०॥

जिस नगरी की (गगन-चुम्बी) अट्टालिकाओं के ऊपर, (हवा के वेग से) चञ्चल हुए पताका-वस्त्र की नोक पर लगे हुए डण्डे के आघात—(कुण्डिनपुर के

वर) आकाश-मार्ग में जाते हुए, सूर्य के अश्व-समूहों को—मानों चाबुक से हांकते हुए, सूर्य-सारथि अरुण को—विश्राम दे रहे थे ॥८०॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक्।
जगतां खलु याखिलाद्भुताजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥ ८१ ॥

क्षितीति । [तलमध्योपरिपूरिणां] तलमध्योपरि अधोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयन्तीति तत्पूरिणां, जगतां = पातालभूमिस्वर्गाणां पृथक् = असङ्कीर्णं [निजचिह्नधारिभिः] यानि निजानि प्रतिनियतानि निजजिह्वानि निध्यन्नपानस्रक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभिस्तथोक्तैः सारैः=उत्कृष्टैः [क्षितिगर्भ-धराम्बरालयैः] क्षितिगर्भे क्षितिकुहरे, पाताले धरायां भूपृष्ठे, अम्बरे आकाशे च, ये आलया गृहाः तैः भूम्यन्तर्बहिःशिरोगृहैरित्यर्थः । या = नगरी [अखिलाद्भुता] अखिला कृत्स्ना, अद्भुता चित्रा, अजनि=जाता । 'दीपजन'इत्यादिना जनेः कर्त्तरि लुङ् । च्लेश्चिणादेशः । खलु । अत्र क्षितिगर्भादीनां तलमध्योपरि जगत्सु सतां तच्चिह्नानाञ्च यथासंख्यसम्बन्धात् यथासंख्यालङ्कारः । एतेन त्रैलोक्यवैभवं गम्यते ॥८१॥

जो नगरी—तल (निचली मञ्जिल, अर्थात् पाताल-स्वरूप), मध्य (बिचली मञ्जिल, अर्थात् भूर्लोकरूप) और ऊपरी मञ्जिल (अर्थात् स्वर्गलोक स्वरूप) को अपने रूप से व्याप्त करनेवाले, (अर्थात् पाताल, भूतल, स्वर्ग नामधारी) त्रिभुवन के श्रेष्ठ अंश से, पृथक्-पृथक्, अपने-अपने चिह्नों (निचली मञ्जिल में पाताल चिह्न मणि आदि; बिचली मञ्जिल में भूतलचिह्न अनाज-पानी आदि; ऊपरी मञ्जिल में स्वर्गचिह्न स्थिरयौवना वराङ्गना, इत्र, फुलेल आदि) को धारण करनेवाले, क्षितिगर्भस्थ भवनों (चोरी डकैती से बचने के लिए पातालचिह्न खजाना युक्त तहखाना वाले मकानों), धरास्थित भवनों (भूतल पर बनी हुई दूसरी मञ्जिल में भूतलचिह्न अनाजपानी वाले मकानों) और अम्बर-स्थित भवनों (आकाशस्थित ऊपरी मञ्जिल में, तच्चिह्न स्थिरयौवना वराङ्गना, अङ्गराग आदि विलास के समस्त साधनों) द्वारा—समस्त नगरियों से बढ़कर आश्चर्यदायिनी हुई ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

दधदिति । यत्र = नगर्याम् [अम्बुद-नीलकण्ठतां] अम्बुदैरम्बुदवन्नीलः कण्ठः शिखरोपकण्ठः गलश्च यस्य तस्य भावं तताम् । 'कण्ठो गले सन्निधाने' इति

विश्वः। दधत् [अत्यच्छसुधोज्ज्वलं] अच्छया सुधया लेपनद्रव्येण च सुधावदमृतवच्चोज्ज्वलं वपुर्वहत्। 'सुधालेपोऽमृतं सुधा' इत्यमरः। क्षितिभृन्मन्दिरं = राजभवनम् इन्दुमौलिताम् = इन्दुमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं, कथं नाम न ऋच्छतु = गच्छत्वेवेत्यर्थः। राजभवनस्य तादृगौन्नत्यं युक्तमिति भावः। अन्यत्र नीलकण्ठत्व इन्दुमौलित्वमीश्वरत्वं च युक्तमिति भावः। अत्र विशेषणविशेष्याणां श्लिष्टानामभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणात् प्रकृतेश्वरप्रतीतेः ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

उस नगरी में—मेघों से श्यामरङ्ग शिखर प्रदेशवाला, अत्यन्त निर्मल चूने की छुहाई से सफेद आकार (सतह) वाला और इन्दु मण्डल पर्यन्त (अत्युच्च) शिखरवाला, क्षितिपाल भीम का राजमहल—(कालकूट विषपान करने से) मेघ के समान नीलकण्ठवाले, अतीव स्वच्छ अमृत के समान शुभ्र दीप्तिशाली शरीरवाले और शिर पर चन्द्रमा धारण करनेवाले इन्द्र-मौलि भगवान् शिव के साथ—क्यों न समानता प्राप्त करता ? ॥ ८२ ॥

बहुरूपकशालभञ्जिका-मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः।
यदनेकसौधकन्धरा-हरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

बह्विति। [बहु-रूपक-शाल-भञ्जिका-मुखचन्द्रेषु] बहुरूपकाः भूयिष्ठसौन्दर्याः। शैषिकः कप्रत्ययः। तेषु शालभञ्जिकानां कृत्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः = चन्द्रत्वात् सम्भाविताः कलङ्कमृगाः ते [यदनेक-सौधकन्धरा-हरिभिः] यस्यां नगर्याम् अनेकेषां बहूनां सौधानां कन्धरासु कण्ठप्रदेशेषु, ये हरयः सिंहाः, तैः कुक्षिगतीकृता इव = ग्रस्ताः किम्। इत्युत्प्रेक्षा मुखचन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्। अन्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः ॥८३॥

जिस नगरी के बहुत से राजमहलों के खम्भों पर बनी हुई (पत्थर की) मूर्तियों ने—अनेक रूप की बनी हुई पुतलियों के मुख-चन्द्रों के—कलङ्क रूपी हरिणों को, मानो खा लिया है—ऐसा प्रतीत होता था ॥ ८३ ॥

बलिसद्म दिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः।
अधराय कृता ययैव सा विपरीताजनि भूर्विभूषया ॥ ८४ ॥

बलीति। स = प्रसिद्धः तथ्यवाक् = सत्यवचनः नारदः बलिसद्मदिवं = पातालस्वर्गं दिवः = मेरुस्वर्गाद्, अप्युपरि = उपरि स्थितामुत्कृष्टाञ्च। आह स्म = उक्तवान्। अथ = इदानीं भूर्विभूषया यया = नगर्या। अधरा = न्यूना, अधस्ताच्च

कृता इव = इत्युत्प्रेक्षा । सा = अलिका... विपरीता = विपरीता
भजनि । सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधःस्थितिः वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

उस सत्यवादी नारद ने (विष्णुपुराण में) कहा था कि राजा बलि का पाताल लोकरूपी स्वर्ग, स्वर्गलोक से भी ऊपर (उत्कृष्ट) है। पर, पृथ्वी की अलङ्कार-रूपा इस कुण्डिन नगरी ने (अपनी स्थापना के अनन्तर, अपने सौन्दर्य से) उस (पाताल लोकरूपी स्वर्ग) को भी अधर कर (नीचा दिखला) दिया। अतः अब वह (बलिलोक) विपरीत (उल्टी अर्थात् निम्न श्रेणी की) हो गयी है ॥८४॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥८५॥

प्रतीति । [पथिकाह्वानद-सक्तु सौरभैः] पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः, तेषामाह्वानं ददातीति तथोक्तमाह्वयिकम्, अध्वानं गच्छतामाकर्षकमित्यर्थः । शक्तूनां सौरभं सुगन्धो यस्मिन् प्रतिहट्टपथे = प्रत्यापणपथे । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना वीप्सायामव्ययीभावः । 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति सप्तम्या अमभावः । [घरट्ट-जात्] घरट्टाः गोधूमचूर्णग्रावाणः तज्जात्, [यदुत्थितात्] यस्या नगर्याः उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वरः = निर्झरस्वरः कण्ठध्वनिः घनान् = मेघान् अधुनापि नोज्झति = न त्यजति । सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं ध्वनन्तीति भावः । अत्र घनानां घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा च घर्घरस्वनस्य तद्धेतुकत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्येति सङ्करः ॥८५॥

प्रत्येक हाट में पथिकों को बुलाने वाली सत्तू की सुगन्धि से, जाँतों के कारण उत्पन्न हुए, कलह के द्वारा—घर्घर की आवाज़—आज दिन भी मेघों को नहीं छोड़ रही है। [अर्थात् काले-काले बादल अपनी गड़गड़ाहट से प्रवासी प्रेमियों को अपने अपने घर जाने के लिए प्रेरणा कर रहे हैं। उधर कुण्डिन नगर के हर बाजार में जाँता-चक्कियाँ चल रही हैं, जिनमें खूब सुगन्धित सत्तू पीसे जा रहे हैं। अतः वे इस प्रकार घर्घर-घर्घर की आवाज़ कर रही हैं मानों पथिकों को वहाँ रुकने के लिए निमन्त्रण दे रही हैं। यह देखकर (पथिक को प्रेरणा करनेवाले) मेघ और (पथिक को अपने यहाँ रोकनेवाली) जाँतों में पारस्परिक वाक्कलह हुआ (आपसी कहा-सुनी हो गयी)। इसमें स्वरभङ्ग हो (गला बैठ) जाने के कारण मेघों की घर्घर ध्वनि हो गयी—जो आज दिन तक सुनाई पड़ती है] ॥८५॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम् ।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥८६॥

वरण इति । कनकस्य सम्बन्धी वरणः=तद्विकारः प्राकारः स एव अमराद्रिः = मेरुः, यां=नगरीमेव मानिनीं=कोपसम्पन्नाम् अत एव अङ्कात्=निजोत्सङ्गाद् आगतां भूलोकं प्राप्तां दिवम्=अमरावतीं [घन-रत्न-कवाट-पक्षतिः] घने निविडे रत्नानां कवाटे रत्नमयकवाटे एव पक्षती पक्षमूले यस्य स सन् परिरभ्य= उपगूह्य मेरोः पक्षवत्त्वात् पक्षतिरूपत्वम् अनुनयन् = अनुसरन् अनुवर्त्तमानः उवास । कामिनः प्रणयकुपितां प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः । रूपकालङ्कारः स्फुट एव । तेन चेयं नगरी कुतश्चित् कारणादागता द्यौरेव वरणश्च स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥८६॥

घने रत्न कपाटरूप दो पंखों वाला, सोने का परकोटावाला (देवपर्वत) सुमेरु-मानिनी (प्रणयकुपिता; सम्मानयोग्या) होने के कारण, अपनी गोद छोड़कर, (भूतल पर) आयी हुई, उस स्वर्ग-भू-तुल्या कुण्डिन नगरी (नायिका) का—मानो आवेष्टन (घेरा, आलिङ्गन) द्वारा, प्रसन्न (अनुनय-विनय) करता हुआ, निवास कर रहा था ॥ ८६ ॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपल-वप्र-जन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्द्ध्यताम् ॥८७॥

अनलैरिति । या = नगरी रवेरुदयं लयम् = अस्तमयं चान्तरा = तयोर्मध्यकाल इत्यर्थः । 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति द्वितीया । [ज्वलदर्कोपल वप्र-जन्मभिः] ज्वलतामर्कांशुसम्पर्कात् प्रज्वलताम्, अर्कोपलानां वप्राज्जन्म येषां तैः सूर्यकान्तैः प्राकारजन्यैः, अनलैः, परिवेषम् एत्य = परिवेष्टनं प्राप्य, [बाणपुरी-परार्द्ध्यताम्] बाणपुर्याः बाणासुरनगर्याः शोणितपुरस्य, परार्द्ध्यतां श्रेष्ठताम्, अवहत् । अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासम्भवात् । तादृशीं परार्द्ध्यतामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥८७॥

यह नगरी, सूर्य के उदय से लेकर अस्त तक (अर्थात् दिन भर), जलती हुई सूर्यकान्तमणि के बने हुए परकोटे से, (सूर्यकिरणों के सम्पर्क से) उत्पन्न हुई आग के परिवेश (चारो ओर के घेरे) को पाकर, बाणासुर-नगरी शोणितपुरी के तुल्य श्रेष्ठ (अर्थात् प्रकाशमान) थी ॥८७॥

बहुकम्बुमणिवराटिका-गण-नाटत्-कर-कर्कटोत्करः ।
हिमवालुकयाच्छबालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः ॥८८॥

बह्विति । [बहुकम्बुमणिः] बहवः कम्बवः शङ्खा मणयश्च यस्मिन् सः । [वराटिका-गण-नाटत्-कर-कर्कटोत्करः] वराटिकागणनाय कपर्दिकासंख्यानाय, नटन्तः तिर्यक् प्रचरन्तः, कराः पाणय एव कर्कटोत्कराः कुलीरसंघाः, यस्मिन् सः । हिमवालुकया = कर्पूरेण, अच्छबालुकः = स्वच्छसिकतः, [यदापणार्णवः] यस्या पुरः आपणो विपणिरेवार्णवः पटु=धीरं दध्वान=ननाद । 'कपर्दो वराटिका' इति हलायुधः । 'शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'सिताभ्रो हिमवालुका,' 'स्यात्कुलीरः कर्कटकः' इति चामरः ॥८८॥

बहुत शंख तथा (वहाँ उत्पन्न होनेवाली एवं विक्रय के निमित्त लायी जाने वाली मुक्ता, प्रवाल आदि) मणिवाला, कौड़ियों के गिनने में लोगों के हिलने वाले हाथ (की अंगुलि) रूप केकड़े के समूहवाला तथा कपूररूप निर्मल बालू वाला उस नगरी का हाटरूपी सागर खूब आवाज कर रहा था ॥८८॥

यदगार-घटाट्ट-कुट्टिम-स्रवदिन्दूपल-तुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥८९॥

यदिति । [यदगार-घटाट्ट-कुट्टिम-स्रवदिन्दूपल-तुन्दिलापया] यस्याः नगर्याः अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु, अट्टानामट्टालिकानां, कुट्टिमेषु निबद्धभूमिषु । 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः' इत्यमरः । स्रवद्भिरिन्दुसम्पर्कात् स्यन्दमानैरिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तैः हेतुभिः, तुन्दिलाः प्रवृद्धा आपो यस्याः तया । 'तुन्दादिभ्य इलच्' 'ऋक्पूः' इत्यादिना समासान्तः । अभ्रगङ्गया = मन्दाकिन्या । 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गा' इत्यमरः । चन्द्रोदये चन्द्रोदये प्रतिचन्द्रोदयम् । वीप्सायामव्ययीभावः । [पतिव्रतौचिती] पतिव्रतानामौचिती औचित्यम् । 'ब्राह्मणादित्वात् गुणवचन' इत्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । स च 'मातरि षिच्च इति षित्वादेव सिद्धे मातामहशब्दस्य गौरादिपाठेनानित्यत्वज्ञापनाद्वैकल्पिकः । अत एव वामनः 'ष्यञः षित्कार्यं बहुलम्' इति स्त्रीनपुंसकयोर्भावक्रिययोः ष्यञ्, क्वचिच्च वुञ् । 'औचित्यमौचिती मैत्र्यं मैत्री वुञ् प्रागुदाहृतम्' इत्यमरश्च । न मुमुचे = न तत्यजे । भर्तुः समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शनात्तस्या अपि तथा वृद्धिरुचिता । "आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥" इति

स्मरणादिति भावः। [illegible] विशेषणार्थसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा च यदगाराणामतीन्दुमण्डलमौन्नत्यं गम्यते । तदुत्थापिता चेयमस्याः पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्करः । सा च व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या ॥ ८६ ॥

उस नगरी के भवनों की ऊँची अटारियों के फ़र्श में लगी हुई चन्द्रकान्त मणियों में से बहुत-से झरते हुए जल के कारण, वृद्धि को प्राप्त हुई आकाश-गङ्गा (मन्दाकिनी)—प्रत्येक चन्द्रोदय के समय, अपना पातिव्रत धर्म नहीं छोड़ती थी [जिस प्रकार चन्द्रोदय के समय सरित्पति सागर का जल बढ़ता है, उसी प्रकार उसकी पतिव्रता पत्नी आकाशगङ्गा का जल भी प्रत्येक चन्द्रोदय के समय चन्द्रकान्त के जल से बढ़ता था] ॥ ८६ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायमभुर्विलेपनापण-कश्मीरज-पण्यवीथयः ॥९०॥

रुचय इति । यत्र = नगर्याम् **अनुसायं**=प्रतिसायम् । वीप्सायामव्ययीभावः। [**विलेपनापण-कश्मीरज-पण्यवीथयः**] विलेपनापणेषु सुगन्धद्रव्यनिषद्यासु कश्मीरजानि कुङ्कुमान्येव, पण्यानि पणनीयद्रव्याणि, तेषां वीथयः श्रेणयः, **अस्तमितस्य**=अस्तङ्गतस्य, **भास्वतः** सम्बन्धिन्यः **स्खलिताः**=अस्तमयक्षोभात् च्युताः। अत एव **निरालयाः** = निराश्रया **रुचयः** = प्रभाः **अभुः खलु** । कथञ्चित्प्रच्युताः सायन्तनार्कत्विष इव भान्ति स्मेत्यर्थः । कुंकुमराशीनां तदा तत् सावर्ण्यादियमुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या भातेर्लङि, झेर्जुसादेशः ॥९०॥

उस नगरी में प्रत्येक सन्ध्या समय, अङ्गराग द्रव्यों की दूकानों में बिकनेवाले कुंकुम रूप (लाल रंग वाले) पदार्थों की गलियाँ--ऐसी चमक रही थीं, मानो अस्त होते हुए सूर्य से गिरी हुई आधारहीन किरण हों ॥ ९० ॥

विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते ।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतां वस्तु पुरोदरे हरेः ॥९१॥

विततमिति । यत्र =नगर्यां, **वणिजा** = वणिग्जनेन, **पणितुं** = व्यवहर्तुं आपणे = पण्यवीथ्यां, **विततं** = प्रसारितम् **अखिलं जगतां** लोके स्थितं **वस्तु** = पदार्थजातं [illegible] **उदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना**=मार्क-

[मार्कण्]डेयेन इव जनेन = लोकेन वीक्ष्यते;—विष्णूदरमिव समस्तवस्त्वाकरोऽयमवभासत [इ]त्यर्थः। पुरा किल मार्कण्डेयो हरेरुदरं प्रविश्य विश्वं तत्राद्राक्षीदिति कथयन्ति॥९१॥

उस नगरी में व्यापारियों द्वारा, बेंचने के लिए फैलायी गयी समस्त संसार की (प्राप्य) वस्तुएँ, इस भाँति दीख पड़ती थीं, जैसे मार्कण्डेय मुनि ने—पूर्वकाल में, [बा]लमुकुन्द भगवान् विष्णु के उदर में—अखिल भूमण्डल के पदार्थों का दर्शन किया था॥ ९१॥

सममेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम्॥९२॥

सममिति। [**यदापणे**] यस्या नगर्या आपणे, **सौरभलोभनिश्चलं** = गन्धग्रहणनिष्पन्दं, ततः क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः। **मलीमसं** = मलिनं, सर्वाङ्गनील-मित्यर्थः। अन्यथा पीतमध्यस्यालेः पीतिम्नैव व्यवच्छेदात् अतो गुणतोऽपि दुर्ग्रह-मित्यर्थः। 'ज्योत्स्ना तमिस्रा' इत्यादिना निपातः। **अलिं** = भृङ्गं **एणमदैः** **समं** = कस्तूरीभिः सह, **तुलयन्** = तोलयन् **पणिता** = विक्रेता कूजन्तमपि [**जनारवैः**] जनानामारावैः कलकलैः, **न अवैत्** = शब्दतोऽपि न ज्ञातवान् इत्यर्थः। इह निश्च-लस्यालेः गुञ्जनं कविना प्रौढवादेनोक्तमित्यनुसन्धेयम्। अत्रालेर्नैल्यादेणमदोक्तेः सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात्। तेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते॥ ९२॥

उस नगरी के हाटों में बेंचनेवाले दूकानदार—सुगन्धि के लोभ से कस्तूरी पर, निश्चलरूप से बैठे हुए, कस्तूरी के समान काले रंग वाले तथा गुञ्जार करते हुए, भौंरों को भी—कस्तूरी के साथ तौलते समय जनता के कोलाहल के कारण, जान नहीं पाते (कि ये वस्तुतः भौंरें हैं, कस्तूरी नहीं)॥ ९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहज्वलनाहितोष्मणा।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम्॥९३॥

रविकान्तेति। **यत्र** = नगर्यां **सकलाहः** = कृत्स्नमहः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्'। 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंलिङ्गता। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। योगविभागात्समासः। [**ज्वलनाहितोष्मणा**] ज्वलनेन तपनकराभिपातात्प्रज्वलनेन आहितोष्मणा जनि-तोष्मणा जनितोष्णेन, **रविकान्तमयेन सेतुना** = सेतुसदृशेनाध्वना, सूर्यकान्त-कुट्टिमाध्वनेत्यर्थः। **गच्छतां** = सञ्चरतां **चरणौ**=चरणानित्यर्थः। स्तनादीनां द्वित्व-

विशिष्टा जातिः प्रायेणेति जातौ द्विवचनम् । **शिशिरे** = शिशिरर्तौ । तत्रापि **निशि हिमं पुरा नो दुनोति** = नाऽपीडयत् । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' । अत्र सेतोरूष्मासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तत्रोत्तरस्याः पूर्वसापेक्षत्वात् सङ्करः ॥९३॥

उस नगरी में शिशिर ऋतु में पाला (तुषार)—सूर्यकान्त मणि से बने हुए और समूचे दिन भर जलने से गरम हुए पुल (तथा राजमार्ग) पर, रात के समय चलने वालों के पैरों को उस पूर्वकाल में—कष्ट नहीं पहुँचाता था ॥९३॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषध-शील-शीतलम् ।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः ॥९४॥

विधिवति । **विधुदीधितिजेन** = इन्दुकरसम्पर्कजन्येन, **पयसा** = सलिलेन [**नैषध-शील-शीतल**] नैषधस्य नलस्य, शीलं वृत्तं, स्वभावो वा, तद्वच्छीतलं, **शशिकान्तमयं यत्पथं** = यस्या नगर्याः पन्थानं **तपागमे** = ग्रीष्मप्रवेशे **कलितीव्रः** = कलिकालवच्चण्डः, **आतपः न तपति स्म** । नलकथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः । अत्र नगरपथस्य इन्दूपलपयःसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तत्सापेक्षत्वादुपमयोः सङ्करः ॥ ९४ ॥

उस नगरी के मार्ग, चन्द्रकान्तमणि के बने होने के कारण, चन्द्र-किरण से रिसते हुए जल के द्वारा, ग्रीष्मऋतु में—नल के शील (सदाचार, स्वभाव) के समान, शीतल थे । अतः उन पर चलने से, कलियुग के तुल्य प्रखर धूप सन्ताप नहीं पहुँचाती थी ॥ ९४ ॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणि-भाषित-भाष्य-फक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥९५॥

परिखेति । **परिखावलयच्छलेन**=परिखावेष्टनव्याजेन, **कुण्डलनां**=मण्डलाकाररेखाम् **अवापिता इव परेषां** = शत्रूणां **ग्रहणस्य** = आक्रमणस्य, अन्यत्र अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य, **न गोचरा** = अविषया **या** = नगरी, **विषमा** = दुर्बोधा, **फणिभाषितभाष्यफक्किका** = पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्थकुण्डलिग्रन्थः, तद्वदिति शेषः । अत्र नगर्याः कुण्डलिग्रन्थत्वेनोत्प्रेक्षा । सा च परिखावलयच्छलेनेति अपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ९५ ॥

चारों ओर गोल खाईं के बहाने कुण्डलना (मण्डलाकार रेखा) पायी हुई वह नगरी—शत्रुओं के ग्रहण (आक्रमण) के उसी प्रकार परे है, जिस प्रकार

शेषनाग रचित महाभाष्य की फक्किका (पूर्वपक्ष) कुण्ठित बुद्धिवाले व्यक्तियों के ग्रहण (आलोचनात्मक ज्ञान) के परे है और वे उस पर, कुण्डलना लगा कर छोड़ देते हैं ॥ ९५ ॥

मुख-पाणि-पदाक्षिण पङ्कजै रचिताङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः ।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मर-पूजा-कुसुम-स्रजः श्रियम्॥९६॥

मुखेति । यत्र = नगर्यां [मुख-पाणि-पदाक्षिण] मुखञ्च, पाणी च, पदे च, अक्षिणी च, यस्मिन् तस्मिन् । प्राण्यङ्गत्वाद्द्वन्द्वैकवद्भावः । पङ्कजैः रचिता =सृष्टा अपरेषु = मुखादिव्यतिरिक्तेषु, अङ्गेषु चम्पकैः = चम्पकपुष्पैः रचिता सर्वत्र सादृश्याद्व्यपदेशः, भीमजा = भैमी, स्वयं स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं= शोभाम् आदित = आत्तवती । ददातेर्लुङि । 'स्थाध्वोरिच्च' इतीत्वम् 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः । अत्र अन्यश्रियोऽन्यथा सम्भवात् श्रियमिति सदृश्याक्षेपान्निदर्शना-भेदः । तथा तदङ्गानां पङ्कजाद्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः । तदुत्थापिता चेयं निदर्शनेति सङ्करः ॥ ९६ ॥

उस नगरी में—जिस के मुँह, हाथ, पैर और नेत्र (क्रमशः श्वेत, रक्त तथा नीले) कमल के फूलों के तथा (बाहु, उदर आदि) दूसरे अवयव चम्पा के फूलों के बने थे—-ऐसी भीमराजकुमारी दमयन्ती ने, कामदेव की पूजा में चढ़ने वाली, फूलमाला की शोभा स्वयं धारण की थी ॥ ९६ ॥

जघन-स्तन-भार-गौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः ।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः ॥९७॥

जघनेति । [जघन-स्तन-भार-गौरवात्] जघनानि च स्तनौ च जघनस्तनम् । प्राण्यङ्गत्वाद्द्वन्द्वैकवद्भावः । तदेव भारः, तस्य गौरवात् गुरुत्वात् वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः शतं = शतसंख्याकाः । 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोः' इत्यमरः । अप्सरसोऽवतीर्य=स्वर्गादागत्य, तत्सखीजनः सत्यः । जातावेकवचनम् । यां = नगरीम् , अध्यासत = अध्यतिष्ठन् । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वम् । ध्रुवम् = इत्युत्प्रेक्षा । अप्सरःकल्पाः शतं सख्य एनामुपासत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

नितम्बों तथा कुचों के भार से भारी होने के कारण, आकाश का सहारा

लेकर, विहार करने में असमर्थ हो, सैकड़ों (बहुत सी) अप्सराएँ, यह एकदम सत्य ज्ञात है, कि धरती पर आ, दमयन्ती की सखियाँ होकर, उस नगरी में रहती थीं॥

स्थितिशालि-समस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥९८॥

स्थितीति । **चित्रमयी** = आश्चर्यप्रचुरा, आलेख्यमयी च । 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः । या = नगरी [**स्थिति-शालि-समस्तवर्णतां**] स्थित्या मर्यादया स्थायित्वेन च, शालन्ते ये ते समस्ता वर्णा ब्राह्मणादयः, शुक्लादयश्च, यस्याः तस्या भावं तत्ताम् । 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ' इत्यमरः । **कथं न बिभर्तु:** = बिभर्त्वेवेत्यर्थः । [**कलितानल्पमुखारवा**] कलितः प्राप्तः, अनल्पानां बहूनां, मुखानामारवो बहुमुखानां ब्रह्ममुखानां षण्मुखानां च आरवः शब्दो यस्यः सा । या=पुरी [**स्वरभेदं**] स्वरस्य ध्वनेर्भेदं नानात्वं स्वः स्वर्गादिभेदं च **कथं वा नोपैतु,** उपैत्वेवेत्यर्थः । उभयत्रापि सति कारणे कार्यं भवेदेवेति भावः । अत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कारः । उभयोरप्यर्थयोः प्रकृतत्वात् . किन्तु एकनाले फलद्वयवदेकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः प्रथमार्थे; द्वितीये तु जतुकाष्ठवदेकवद्भूतशब्दद्वयप्रतीतेः शब्दश्लेषः ॥ ९८ ॥

चित्रमयी (आश्चर्यमयी; तस्वीर वाली) वह नगरी--स्थिति-शाली (मर्यादा का पालन करनेवाले; दीर्घकाल तक ठहरनेवाले) समस्त वर्णों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों; सफेद-लाल-पीले-काले रंगों) के भाव को क्यों न धारण करे ? और अनल्प-मुखारव होने के कारण (बहुत से मनुष्यों पशुओं आदि के मुखों से शब्द होने के कारण; बहुत से ब्राह्मणों के मुखों से वेदध्वनि होने के कारण) वह नगरी—स्वरभेद (कण्ठध्वनि की विषमता; उदात्त आदि स्वरों की विषमता) को क्यों न प्राप्त करे ? ॥ ९८ ॥

स्वरुचारुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः ।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः ॥९९॥

स्वरुचेति । **माणिक्यमयाः** = पद्मरागमयाः, **यदालयाः** = यस्यां नगर्यां गृहाः, **दिनं** = दिने । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । **समीयुषा** = सङ्गतेन, **अर्केण** हेतुना । **उत्तृषः** = अर्कसम्पर्कादुत्पन्नपिपासाः सन्तः **निशि स्वरुचा** = स्वप्रभया, **अरुणया** = आरुण्यं प्राप्तयेति तद्गुणालङ्कारः । 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यो-

...गुणाहृतिः' इति लक्षणात् । **पताकया** रसनायमानयेति भावः । **सुधाकरं बहुधा लिलिहुः** = आस्वादयामासुरित्यर्थः । अह्नि सन्तप्ता निशि शीतोपचारं कुर्वन्तीति भावः । अत्र गृहाणां सन्तापनिमित्तः सुधाकरलेहनात्मकशीतोपचारः उत्प्रेक्ष्यते । सा चोक्ततद्गुणोत्थेति सङ्करः । व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

उस नगरी के मानिक के बने हुए घर—दिन भर अपने सामने तपने वाले सूर्य के कारण प्यासे होकर, रात्रि के समय अपनी (मानिक की) चमक से लाल रंग की बनी हुई पताका के द्वारा, चन्द्रमा की सुधा का बार-बार आस्वादन करते थे ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥१००॥

अथानयैव भङ्ग्या राजभवनं वर्णयति—**लिलिहे** इति । **अमलपद्मरागजं** [**यन्नृपसद्म-स्वरुचा**] यस्यां नगर्यां नृपसद्म राजभवनं, **अर्ककरैः** श्रितमतिसामीप्यादभिव्याप्तं । श्रयतेः कर्मणि क्तः । श्रिणातेः पक्वार्थादिति केचित् । तदा ह्रस्वश्चिन्त्यः, प्रकृत्यन्तरं मृग्यमित्यास्तां तत् । अत एव **पिपासु** = तृषितं सत् । पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । स्वकीया रुग्यस्यां तया **स्वरुचा**, तद्रुषितयेत्यर्थः । अत एव **जिह्वानिभया पताकया निशि सुधाकरं लिलिहे** = आस्वादयामास । लिहेः कर्तरि लिट् । स्वरितत्वादात्मनेपदम्, अलङ्कारश्च पूर्ववत् जिह्वानिभयेत्युपमा सङ्करश्च विशेषः ॥ १०० ॥

सूर्य की किरणों के सम्पर्क से प्यासे की भाँति स्थित, निर्मल पद्मराग मणि के बने हुए जिस नगरी के राजमहल—रात्रि के समय अपनी (मणि की) प्रभा से लाल रंग की बनी हुई, जिह्वा-तुल्य पताका के द्वारा, चन्द्रमा के अमृत का पान करते थे ॥ १०० ॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनः सखितामादित पीतवाससः ॥१०१॥

अमृतेति । **पीतया** = पीतवर्णया, [**यद्वलभीपताकया**] यस्या नगर्याः, वलभ्याम् । 'कूटागारं तु वलभिः' इत्यमरः । पताकया **मिलितं** = सामीप्यात् सङ्गतम्, **अमृतद्युतिलक्ष्म** = चन्द्रलाञ्छनं [**वलयायित-शेषशायिनः**] वलयायिते वलयी-

भूते शेषे शेते इति तच्छायिनः, **पीतवाससः** = पीताम्बरस्य विष्णोः **सखितां** = सदृशताम्, **आदित** = अग्रहीत्। इत्युपमालङ्कारः ॥१०१॥

अमृतद्युति (चन्द्रमा) का (काले रङ्ग का मृग) लाञ्छन—उस नगरी की वलभी (सबसे ऊपरी मञ्जिल) पर लगी हुई, पीतवर्ण वाली पताका से मिलकर—मण्डलाकार हुए शेषनाग के ऊपर शयन करनेवाले, पीताम्बरधारी विष्णु की समानता करता था ॥१०१॥

अश्रान्त-श्रुति-पाठ-पूत-रसनाऽऽविर्भूत-भूरि-स्तवा-
जिह्म-ब्रह्म-मुखौघ-विघ्नित-नव-स्वर्गक्रिया-केलिना।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाद-दुकूल-वल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥१०२॥

अश्रान्ते। [**यत्प्रासाद-दुकूल-वल्लिः**] यस्याः नगर्याः, प्रासादे दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः, दुकूलमयी पताकेत्यर्थः। [**अश्रान्त-श्रुति-पाठ-पूत-रसना-विर्भूतभूरि-स्तवाजिह्म-ब्रह्म-मुखौघ-विघ्नित-नव-स्वर्ग क्रिया-केलिना**] अश्रान्तेन श्रुतिपाठेन नित्यवेदपाठेन, पूताभ्यः पवित्राभ्यः, रसनाभ्यो जिह्वाभ्यः, आविर्भूतेषु भूरिस्तवेषु अनेकस्तोत्रेषु, अजिह्मेन अकुण्ठेन, ब्रह्मणो मुखानामोघेन हेतुना। विघ्निता सञ्जातविघ्ना, नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्गसृष्टिरेव केलिः लीला यस्य तेन, **गाधिसुतेन**= विश्वामित्रेण, **पूर्वं** = ब्रह्मप्रार्थनात्पूर्वं **सामि-घटिता** = अर्धसृष्टा। 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सने'इत्यमरः। **मुक्ता** = पश्चान्मुक्ता, **मन्दाकिनी नु** = आकाशगङ्गा किम्, [**अनिलान्दोलैः**] अनिलस्य कर्तुरान्दोलनैश्चलनैर्दिवि = आकाशे, **अखेलत्** = विजहार, इत्युत्प्रेक्षा। एषा कथा त्रिशंकूपाख्याने द्रष्टव्या। शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्। 'सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् ॥१०२॥

उस नगरी के महल पर, लता के समान फहराती महीन रेशमी कपड़े की बनी हुई पताका—आँधी के झोंके के साथ-साथ—निरन्तर वेदपाठ से पवित्र हुई जिह्वा से निकले हुए, बहुत-से स्तोत्रों के पढ़ने में व्यस्त हुए, ब्रह्मा के चारो मुखों के द्वारा विघ्न पड़े हुए, और नये स्वर्गलोक के निर्माण करने की क्रीडा में पड़े, गाधि-तनय विश्वामित्र के द्वारा, प्राचीन समय में, आधी बनी हुई और फिर बाद में (ब्रह्मा की प्रार्थना पर) परित्यक्ता—मन्दाकिनी (स्वर्गङ्गा) के समान, आकाश में अठखेलियाँ कर रही थी ॥ १०२ ॥

यदतिविमल-नील-वेश्म-रश्मि-भ्रमरितभाः शुचि-सौध-वस्त्र-वल्लिः ।
अलभत शमनस्वसुः शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥१०३॥

यदिति । [यदतिविमल-नील-वेश्म-रश्मि-भ्रमरितभाः] यस्या नगर्याः, अतिविमलैर्नीलवेश्मनः इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः, भ्रमरिता भ्रमरीकृता, भ्रमर-शब्दात्तत्करोतीति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । वल्ल्याश्च भ्रमरैर्भाव्यमिति भावः । तथाभूता भाः छाया यस्याः सा, श्यामीकृतप्रभेत्यर्थः । अत एव तद्गुणालङ्कारः [शुचि-सौध-वस्त्र-वल्लिः] शुचिः स्वभावतः शुभ्रा, सौधस्य वस्त्रमेव, वल्लिः, पताके-त्यर्थः । रूपकसमासः । भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् [दिवस-कराङ्कतले] दिवसकरस्य सूर्यस्य, अङ्कतले समीपदेशे उत्सङ्गप्रदेशे च, चला = चपला, लुठन्ती = परिवर्त्तमाना सती, शमनस्वसुः = यमुनायाः, शिशुत्वं=शैशवम्, अलभत = बालयमुनेव बभावित्यर्थः । बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भावः । अत्रान्यस्य शैशवेना-न्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना पूर्वोक्ततद्गुणरूपकाभ्यां सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

उस नगरी के अत्यन्त निर्मल नीलम मणि के बने हुए मकानों की किरणों से, भौंरे के समान नीले रंग की प्रभावाली, राजभवनों पर लता के समान लटकती हुई सफेद पताकाओं की पँक्ति—सूर्य के अङ्कतल (समीप नीचे की ओर, गोद में) चपल होकर, खेलती हुई (विलीयमान)—यमभगिनी यमुना के (अल्हड़) शैशव का अनुकरण कर रही थी ॥ १०३ ॥

स्व-प्राणेश्वर-नर्म-हर्म्य-कटकातिथ्य-ग्रहायोत्सुकं
　पाथोदं निज-केलि-सौध-शिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमान-कलित-व्योमान एवाभव-
　द्यत्र प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥१०४॥

स्वेति । यत्कामिनी = यन्नगराङ्गना, [विमान-कलित-व्योमानः] विमा-नेन कलितं क्रान्तं, व्योम याभिस्ताः, साक्षाद् अप्सरसः=दिव्याङ्गना एवाभवत् । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इत्यभिधानादेकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोगः कृतः । यत् = यस्मात्, निजकेलिसौधशिखरात् अपादानात् [स्व-प्राणेश्वर-नर्म-हर्म्य-कटकातिथ्य-ग्रहाय] स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यं क्रीडासौधं, तस्य कटकान्वितत्वादातिथ्यस्य ग्रहाय पाथोदं स्वीकाराय, तत्र विश्रमार्थमित्यर्थः । उत्सुकम् = उद्युक्तं, गच्छन्तमित्यर्थः । पाथोदं

= मेघम्, आरुह्य रसात् = रागाद् यान्ती = गच्छन्ती। **अध्वनि अभ्रतरसा** = मेघवेगेन हेतुना, **निमेषं न प्राप**। अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अनिमेषमेघारोहणव्योमयानैः सैव इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१०४॥

अपने प्राण-नाथ के केलि-गृह के मध्य-देश का आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उत्सुक (वहाँ गमन के निमित्त तैयार)— जलद (मेघ) पर अपने विलास-भवनों की अटारियों से चढ़ती हुई, उस नगर की रमणियाँ—विमान में बैठकर, आकाश-मार्ग से जाती हुई साक्षात् अप्सराएँ ही थीं; क्योंकि मेघ के वेग से आकाश में जाने में रस (अनुराग) के कारण उन की आँखें निमेष-हीन (पलक गिराने मात्र का भी विलम्ब सहन न करनेवाली; एक-टक ऊपर की ओर देखनेवाली) हो रही थीं ॥ १०४ ॥

वैदर्भी-केलि-शैले मरकत-शिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
ब्रह्माण्डाघात-भग्न-स्यदज-मदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुर-सुरभेरास्यदेशागताग्रै-
र्यद्गोग्रास-प्रदान-व्रत-सुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥१०५॥

वैदर्भीति। 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति' इति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—**वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैः** अथ [**ब्रह्माण्डाघात-भग्न-स्यदज-मदतया**] ब्रह्माण्डाघातेन भग्नः स्यदजमदो वेगगर्वो येषां तत्तया, [**ह्री-धृतावाङ्-मुखत्वैः**] ह्रिया धृतं अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरधोमुखैः। अत एव **दिवि उत्तानगायाः** = ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थः। **कस्याः सुरसुरभेः**=देवगव्याः [**आस्यदेशागताग्रैः**] आस्यदेशं गताग्रैः [**अंशुदर्भैः**] अंशुभिरेव दर्भैः [**यद् गोग्रास-प्रदान-व्रत-सुकृतं**] यस्या नगर्याः सम्बन्धि गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम्, **अविश्रान्तं नोज्जृम्भते स्म**; किन्तु सर्वस्य अपि ग्रासदानाद्युत्तसुकृतमेवोज्जृम्भितमित्यर्थः। अत्युक्तमालङ्कारोऽयमिति केचित्। अंशुदर्भाणां ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः भेदः। स्रग्धरावृत्तम्। 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति लक्षणात्॥

विदर्भ-कन्या दमयन्ती के विहार-पर्वत पर, मरकत मणि की बनी हुई चोटी से, ऊपर की ओर किरणें जाती थीं; पर ब्रह्माण्ड के साथ टकराने से वेग का अहङ्कार चूर-चूर हो जाने के कारण, लज्जा के मारे नीचा मुँह करके लौटती थीं; और

आकाश में ऊपर की ओर मुंह करके जाती हुई, किसी देव-गाय के मुखमण्डल में दूब की नोंक की भांति प्राप्त होती थी। इस प्रकार उस नगरी में गो-ग्रास देने के व्रत का पुण्य—किरणरूपी दूब से—निरन्तर बढ़ रहा था ॥ १०५ ॥

विधु-कर-परिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशि-दृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलित-जलसेक-प्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

विधुविति । तत्र=तस्यां नगर्यां, शशिदृषदुपक्लृप्तैः=चन्द्रकान्तशिलाबद्धैः, अत एव विधु-कर-परिरम्भात्=चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतोः आत्तनिष्यन्दैः=जलप्रस्रवणैरेव पूर्णैस्तरूणामालवालैः [विफलित-जलसेक-प्रक्रियागौरवेण] विफलितं व्यर्थीकृतं, जलसेकस्य प्रक्रियायां प्रकारे गौरवं भारो यस्य तेन, भैमीवनेन स=हंसो हृतचित्तो व्यरचि । कर्मणि लुङ् । अत्रालवालानां चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । एतदारभ्य चतुःश्लोकपर्यन्तं मालिनीवृत्तम् । 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ १०६ ॥

उस नगरी में चन्द्रकान्त मणि के बने हुए, पेड़ों के थाले—चन्द्रमा की किरणों के सम्पर्क से, अपने रिसते हुए जल से लबालब भरे हुए होकर,—पौधों को जल देकर, सींचने के कार्य-भार को व्यर्थ कर रहे थे। ऐसे भीमकुमारी दमयन्ती के केलि-उपवन ने, उस राजहंस का चित्त, अपनी ओर आकृष्ट कर लिया ॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायि-शीतांशु-लेखा-
ऽनुकरण-पटु-लक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

अथेति । अथ=दर्शनानन्तरं, कनकपतत्रः=स्वर्णपक्षी, तत्र=वने, सदृशभासां=आत्मतुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीं 'स्फुरति-स्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' इति षत्वं उडुपरिषदि=तारकासमाजे [मध्यस्थायि-शीतांशु-लेखा-ऽनुकरण-पटु-लक्ष्मीम्] मध्यस्थायिन्याः शीतांशुलेखायाश्चन्द्रकलायाः, अनुकरणे पटु समर्था, लक्ष्मीः शोभा, यस्याः सा । इत्युपमालङ्कारः । तां राजपुत्रीं, अक्षिलक्षीचकार=अद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

अनन्तर ... में, समान कान्ति-(लावण्य-) शाली सखियों की सभा में, विशेष शोभायमान, नक्षत्रों की परिषद् के बीच में विराजमान, चन्द्र-लेखा का अनुकरण करने में अतीव निपुण शोभावाली उस राजकुमारी दमयन्ती को, अपने नयनों का अतिथि बनाया ॥१०७॥

भ्रमण-रय-विकीर्ण-स्वर्ण-भासा खगेन
कचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥१०८॥

भ्रमणेति । अधः=भूतले, कचन=कुत्रचित्पतनयोग्यं देशं=स्थानं अन्विष्यता=गवेषमाणेन । अत एव [भ्रमण-रय-विकीर्ण-स्वर्णभासा] भ्रमणरयेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीप्तिर्यस्य तेन, खगेन, अमुष्या अयं अदसीयं । 'वृद्धाच्छः, त्यदादीनि च' इति वृद्धिसंज्ञा । मुखविधुं=मुखेन्दुं सेवितुं लम्बमानः=लंब-मानः, शशिपरिधिः=चन्द्रपरिवेष इव उच्चैः=उपरि मण्डलः=वलयः, तेने=वितेने । तनोतेः कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥१०८॥

ऊपर घूमने के वेग से सुनहली कान्ति फैलाते और नीचे की ओर कहीं उतरने के योग्य जगह ढूँढ़ते हुए, उस राजहंस ने दमयन्ती के मुख—चन्द्र की सेवा करने के लिए, मानों (चन्द्रमण्डल देश को छोड़कर) भूतल पर लटकते (आये) हुए, चन्द्रमा के परिवेष के समान, मुख (रूपी चन्द्र) के ऊपर मण्डल बना दिया (अर्थात् चक्कर लगाया) ॥१०८॥

अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।
इति मतिरुदयासीत्पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिः सार्धमाबद्धखेलाम् ॥१०९॥

अनुभवतीति । विपिनभुवि=वनप्रदेशे, सखीभिः=सहचरीभिः । 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' इति निपातनात् ङीप् । सार्द्धं आबद्धखेलां=अनुबद्धक्रीडां । 'क्रीडा खेला च कूर्दनम्' इत्यमरः । भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः, सा=प्रसिद्धा शची=इन्द्राणी, घृताचीमुखाभिः, सहचरीभिः सह इत्थम् उच्चैः=उत्कृष्टं नन्दनानन्दं=

नन्दनसुखं नानुभवति इति [illegible] आसीत् [illegible] । अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः । तावन्मात्रस्यैव तत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात्, प्राधान्यं त्वप्रयोजकमिति न कश्चिद्विरोधः । अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः । 'भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः । आधिक्याद्ल्पकथनाद्व्यतिरेकः स उच्यते । इति लक्षणात् ॥

उपवन स्थल में, सखियों के साथ क्रीड़ा करती हुई दमयन्ती को देखकर, हँस की बुद्धि में यह बात आयी कि इन्द्राणी भी—घृताची आदि सहेलियों के साथ नन्दन-कानन में इस प्रकार विशेष आनन्द का उपभोग न करती होगी ॥१०९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत् तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥११०॥

श्रीहर्षमित्यादि । व्याख्यातम् । द्वितीय एव द्वैतीयीकः । 'द्वितीयादीकक् स्वार्थे वा वक्तव्यः' इतीकक् । द्वैतीयीकतया मितो द्वितीयत्वेन गणित द्वितीयः, इत्यर्थः, अगमत् ॥११०॥

इति पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण-महोपाध्याय-कोलाचल—मल्लिनाथसूरिविरचितायां जीवातुसमाख्यायां नैषधटीकायां द्वितीयः सर्गः समाप्तः ।

कविराज-समूहों के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरा मणि (अर्थात् असाधारण राष्ट्रकवि) श्रीहीर नामक पिता तथा (अपने सौन्दर्य से मा = रमा को जीतने वाली) मा—मल्लदेवी माता ने जिस जितेन्द्रिय (विद्या-श्री से हर्षित होने वाले) श्रीहर्ष नामक पुत्र को उत्पन्न किया; उसके प्रबन्ध-महाकाव्य—(रस, भाव, अलङ्कार आदि से) मनोहर नैषधीय चरित में, स्वभावतः सुन्दर गिना जानेवाला दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥११०॥

—o:*:o—

तृतीयः सर्गः ।

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

आकुञ्चिताभ्यामिति । अथ=मण्डलीकरणानन्तरं, हंसः । आकुञ्चिताभ्यां= आवर्जिताभ्यां, पक्षतिभ्यां=पक्षमूलाभ्यां, नभोविभागात्=आकाशदेशात्, तरसा= वेगेनावतीर्य । [निवेशदेशाततधूतपक्षः] निवेशदेशे उपनिवेशस्थाने, आततौ विस्तारितौ धूतौ कम्पितौ च पक्षौ येन सः, तथा सन् उपभैमि = भैम्याः समीपे। सामीप्येऽव्ययीभावः । नपुंसकं ह्रस्वत्वं च । भूमौ पपात । स्वभावोक्तिरलङ्कारः॥१॥

(दमयन्ती के मुख-चन्द्र के ऊपर मण्डल बनाने के) अनन्तर हंस—अपने सिकुड़े हुए पंखों से, आकाश में से झपट कर, उतरा; और उतरने के स्थान के ऊपर (पहले) पंख फैलाकर, फिर उसे फड़फड़ाकर, दमयन्ती के पास जमीन पर जा गिरा ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार ।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः सम्भ्रान्तमन्तःकरणञ्चकार ॥ २ ॥

आकस्मिक इति । तदा=पतनसमये, पक्षपुटाहतायाः क्षितेः=भूतलात् । अकस्माद्भवः आकस्मिकः=अदृष्टहेतुकः, निर्हेतुक इत्यर्थः । यः स्वनः=ध्वनिरुच्चचार=उत्थितः, स = स्वनः, अन्यविन्यस्तदृशः=विषयान्तरनिविष्टदृष्टेस्तस्याः = भैम्याः, अन्तःकरणं द्राक् = झटिति, सम्भ्रान्तं = ससम्भ्रमं चकार । अकाण्डे सम्भावितशब्दश्रवणाच्चमत्कृतचित्ताभूदित्यर्थः । स्वभावोक्तिः ॥२॥

हंस के गिरते समय, उसके दोनों पंखों के अगले हिस्से से भूतल पर टकराने के कारण, अचानक जो शब्द हुआ, उस (शब्द) ने दमयन्ती—जिसकी दृष्टि अन्यत्र लगी हुई थी उस—के अन्तःकरण में एकबारगी हड़बड़ी पैदा कर दी ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्त-तत्तद्विषयग्रहाणि ।
प्रापुस्तमेकं निरूपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

नेत्राणीति । [वैदर्भ-सुता-सखीनां] विदर्भाणां राजा वैदर्भो भीमः, तस्य सुतायाः भैम्याः, सखीनां, नेत्राणि [विमुक्त-तत्तद्विषयग्रहाणि] विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहाः तत्तदर्थग्रहणानि [illegible] तत्तद्विषयासक्ता येस्तानि सन्ति । एकम् = एक-

...म्, अद्वितीयञ्च। [निरुपाख्यरूप] नोपाख्यायत इति निरुपाख्यमवाच्यं रूपमा-
...रः, स्वस्वरूपं च यस्य तं पुरोवर्तिनं हंसं तत्पदार्थभूतञ्च। यतव्रतानां = योगिनां
...तांसि ब्रह्म = परात्मानम् इव, प्रापुः = अत्यादरेणाद्राक्षुरित्यर्थः ॥३॥

दमयन्ती की सखियों की आँखें—तत् तत् विषयों (चौसर का खेल, माला-
...न, चन्दन का लेप, दर्शनीय पदार्थों के अवलोकन आदि) का ग्रहण करना
(देखना) छोड़ कर—अवर्णनीय सौन्दर्यवाले, एकमात्र हंस की ओर, उसी प्रकार
...लगीं; जिस प्रकार योगियों के चित्त,—सांसारिक विषय-वासनाओं को छोड़-
...र,—अनिर्वचनीय स्वरूप (आकृति) वाले, अद्वितीय, ब्रह्म की ओर,
...कृष्ट होते हैं ॥ ३ ॥

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

हंसमिति। **असौ** = दमयन्ती, **मुनेः**=योगिनो **मनोवृत्तिरिव स्विकायां**=
स्वकीयायां। 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्य' इतीकारः। **तनौ** = शरीरान्तिके, अन्यत्र तद-
...न्तरे, **सन्निहितम्** = आसन्नम्; आविर्भूतं च; **चरन्तं** = सञ्चरन्तं, वर्त्तमानं च;
हंसं = मरालं, परमात्मानं च। 'हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सरे' इति विश्वः।
अदरिणा=निर्भीकेण, **शयेन** = पाणिना। 'दरो स्त्रियां भये श्वभ्रे; पञ्चशाखः शयः
पाणिः' इत्यमरः। अन्यत्र, **आदरिणा** = आदरवता, **आशयेन** = चित्तेन, **ग्रहीतु-
कामा** = साक्षात् कर्तुकामा च **यत्नात् निश्चलतां** = निश्चलाङ्गत्वं, निश्चलचित्तत्वं च
जगाहे = जगाम ॥ ४ ॥

निकट में चलते हुए हंस को, मजबूत हाथों से ग्रहण करने (पकड़ने) के
लिए, दमयन्ती अपने शरीर को खूब यत्नपूर्वक निश्चल करके, उसी प्रकार खड़ी
हो गयी; जैसे मुनियों की चित्तवृत्ति-सर्वत्र व्यापक, भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालात्मक
उस हंस (परमात्मा) के ग्रहण (परिज्ञान) के लिए—उस (ब्रह्म-साक्षात्कार)
के प्रति आदरशाली आशय (अभिप्राय) से, निश्चल (स्थिर) हो जाती है ॥४॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न धैर्यादियदुत्पपात।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

तामिति। **अयं** = हंसः, **तां** = पूर्वोक्तां **मायां** = कपटं, **इङ्गितैः** = चेष्टितैः,
अनुमाय = निश्चित्य, **अपि धैर्यात्** = स्थैर्यमास्थाय। ल्यब्लोपे पञ्चमी। **वियत्**=

आकाशं प्रति, नोत्पपात = नोत्पतितवान् [आत्मोपरिपातुकं] आत्मन उपरि पातुकं पतयालुं । 'लषपत'इत्यादिना उकञ् प्रत्ययः । तस्याः पाणिं [तत्पाणिं] तु प्लुतिलाघवेन = उत्पतनकौशलेन मोघं वितेने = विफलयत्नम् अकरोत्; आशाञ्च जनयति, न तु पाणौ लगतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

दमयन्ती के माया-जाल (निश्चलरूप से खड़े होकर, पकड़ने की चालबाजी) को, उसकी चेष्टाओं (एकटक नज़र से हंस की ओर देखनेवाली हरकतों) से अनुमान करके भी, वह हंस आकाश में नहीं उड़ा; पर अपने ऊपर गिरनेवाले दमयन्ती के हाथों को, नज़दीक-नज़दीक उड़ने की सफाई से, व्यर्थ कर दिया (अर्थात् हाथों की पकड़ में वह नहीं आया) ॥ ५ ॥

> व्यर्थीकृतं पत्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः ।
> परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यतालम् ॥ ६ ॥

व्यर्थीकृतमिति । अस्याः = भैम्याः, व्यवसायं = हंसग्रहणोद्योगं, तेन पत्ररथेन = पक्षिणा व्यर्थीकृतं तथा, अवसाय = ज्ञात्वा, तत्कालं = तस्मिन् काले । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषणं वा । परस्परां = परस्परस्यामित्यर्थः । कर्मव्यतीहारे सर्वनाम्नो द्विर्भावः । 'समासवच्च बहुलम्'इति बहुलग्रहणादसमासवद्भावे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचने कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वम् । उत्तरपदस्य यथायोगं द्वितीयाद्येकवचनम् । 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वक्तव्यः'इति विकल्पादामादेशः । अर्पितहस्ततालं=दत्तहस्तताडनं यथा तथा । आलीभिः=सखीभिः, अलं=अत्यर्थं अहस्यत=हसितम् । भावे लङ् ॥

उस हंस ने दमयन्ती के पकड़ने के उद्योग को उस प्रकार (अर्थात् प्लुत-लाघव) से बेकार कर दिया—यह जानकर, तत्काल ही आपस में हाथों से ताली पीट-पीटकर, सखियाँ खूब हँसीं ॥ ६ ॥

> उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः ।
> यान्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव सात्रेत्युपालम्भि तयालिवर्गः ॥ ७ ॥

उच्चाटनीय इति । हे सख्यः ! इदानीं भवतीभिः एषः = हंसः, करतालिकानां दानात् = अन्योन्यहस्तताडनकरणात् उच्चाटनीयः = निष्कासनीयः किमिति काकुः । नोच्चाटनीय एवेत्यर्थः । अत्र [illegible] मध्ये, या मामन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति = मां जिघांसतीत्यर्थः । 'क्रुधद्रुह'इत्यादिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी ।

ति = इत्थं तया = भैम्या, आलिवर्गः = सखीसंघः, उपालम्भि = अशापि;
पेनैव निवारित इत्यर्थः ॥ ७ ॥

'(मालूम पड़ता है कि) तुम सब अब तालियाँ पीट-पीटकर, इसको उड़ा
गी। अतः (समझ लो कि) अब तुम में से जो कोई इस काम में (इसके
कड़ने के लिए जाती हुई) मेरे पीछे-पीछे आवेगी, वह मेरी वैरिन ही होगी'--
इस तरह दमयन्ती ने अपनी सहेलियों को उलाहना देते हुए, झिड़की दी ॥ ७ ॥

घृताल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।
श्यामाथ हंसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

घृतेति । अथ = सखीनिवारणानन्तरं, सखीनां हसिते = हासनिमित्ते घृता-
ल्पकोपा = तासु ईषत्कोपा इत्यर्थः । भास्वन्तमभिप्रयातुः = सूर्याभिमुखं गच्छतः
छाया = अनातपरेखा इव श्यामा = यौवनमध्यस्था । 'श्यामा यौवनमध्यस्था'
त्युत्पलमालायाम् । अन्यत्र, श्यामा = नीला । हंसस्य कर्मणि षष्ठी । [करान-
वाप्तेः] करेण हस्तेन, अनवाप्तेरग्रहणाद्धेतोः [मन्दाक्षलक्ष्या] मन्दाक्षं ह्रीस्तेन
लक्ष्या उपलक्ष्या, ह्रीणा सतीत्यर्थः । अन्यत्र; हंसस्य = सूर्यस्य करानवाप्तेः =
अंशुसंस्पर्शाभावात् [मन्दाक्षलक्ष्या] मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिः, लक्ष्या ग्राह्या । तैः
छाया लक्ष्यते; न प्रकाश इति भावः । पश्चाल्लगति स्म = पृष्ठे लग्नाभूत्; प्राप्त्याशया
तमन्वगात् । 'रविश्वेतच्छदौ हंसौ'; 'बलिहस्तांशवः कराः' इति चामरः ॥ ८ ॥

तब सखियों के हँसने पर कुछ-कुछ कुपित होती हुई और हंस को हाथ से
न पकड़ने के कारण लजाती हुई, वह श्यामा (नव-युवती) दमयन्ती–हंस के
पीछे-पीछे उसी प्रकार चली, जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख जानेवाले व्यक्ति के
पीछे, उसकी छाया जाती है ॥ ८ ॥

शस्ता न हंसाभिमुखी तवेयं यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ॥ ९ ॥

शस्तेति । तवेयं [हंसाभिमुखी] हंसस्य श्वेतच्छदस्य सूर्यस्य च, अभिमुखी
यात्रा = गमनं, न शस्ता = न प्रशस्ता, श्रेयस्करी न । शास्त्रविरोधात् श्रमसन्ताप-
दृष्टदोषाच्चेति भावः । सा इति = इत्थं ताभिः = सखीभिः, [छलहस्यमाना]
छलेन व्याजोक्त्या, हस्यमाना परिहास्यमाना सती भाविप्रियावेदकः = मङ्गल-
मूर्तित्वादागामिशुभसूचकः एष हंसः, मे = मम न अशकुनीभवेदेव; किन्तु

शकुनमेव भवादित्यर्थः । अपक्षी न भवादिति च गम्यते । 'शकुनं तु शुभाशंसा निमित्ते शकुनः पुमान्' इति विश्वः । अभूत तद्भावे च्विः । विध्यादिसूत्रेण प्रार्थने लिङ् । इत्याहस्म = अवोचत् । 'ब्रुवः पञ्चानाम्' इत्याहादेशः । एतेन तदीययात्रानिषेधोक्तदोषः परिहृतो वेदितव्यः ॥९॥

'हंस (सूर्य) के सामने तुम्हारा जाना (अशास्त्रानुमोदित होने के कारण) शुभकारी नहीं होगा'—इस प्रकार सखियों ने, शब्दश्लेष के बहाने ताना मारते हुए, जब उससे कहा तो दमयन्ती ने उत्तर दिया कि 'यह हंस (पक्षी) मेरा अशकुनि (अ-पक्षी, विपक्षी) न होगा (क्योंकि यह तो हंस नामक पक्षी है, अतः अशकुनकारक—अशुभसूचक—न होगा); प्रत्युत यह भावी प्रिय (नल) के बारे शुभ का सूचक ही होगा' ॥९॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेः सुदत्याः पुरः पुरश्चारु चलन् बभासे ।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥१०॥

एवं दमयन्ती व्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह—हंसोऽपीति । असौ हंसोऽपि [**हंसगतेः**] हंसस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्याः, **सुदत्याः** = शोभनदन्तायाः भैम्याः । सुदती व्याख्याता । **पुरःपुरः** वीप्सायां द्विर्भावः । **अग्रे** = समन्तात्, **चारु चलन्** = रम्यं गच्छन् सन्, वैलक्ष्यमेव हेतुस्तस्य **वैलक्ष्यहेतोः**, अहो मामयमतिविडम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननार्थमित्यर्थः । 'विलक्षो विस्मयान्वितः' इत्यमरः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । **एतदीयां गतिमनुकृत्य** = अभिनीय **उच्चैरुपहसन्निव** इत्युत्प्रेक्षा **बभासे** = बभौ । यथालोके परिहासकाः तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति तद्वदिति भावः ॥१०॥

हंस के समान चाल चलनेवाली और सुन्दर दाँतवाली दमयन्ती के आगे-आगे चलता हुआ, वह हंस ऐसा सुन्दर मालूम पड़ता था—मानों वह उसकी चाल का, उसके सामने ही अनुकरण करके, उसे लज्जित करने के अभिप्राय से, उसका खूब मजाक उड़ा रहा हो ॥१०॥

पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम् ।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाचकृषे कृशाङ्गी ॥११॥

पदे पद इति । भावयतीति **भाविनी** = हंसमेव मनसा भावयन्ती **कृशाङ्गी** = भैमी **भाविनि** = भाविष्यत्यनन्तर इत्यर्थः । 'भविष्यति गम्यादयः' इति

पधुः। **पदे पदे तं** = हंसं यथा **करप्राप्यं** = करग्राह्यं **नूनं** = निश्चितम् **अवैति** = त्येति, **तथा सखेलं** = सलीलं **चलता** = गच्छता, **तेन** = हंसेन **प्रताय** = वञ्च-यित्वा **लतासु, आचकृषे** = आकृष्टा, एकान्तं नीतेत्यर्थः ॥११॥

हंस पकड़ने की भावना वाली दमयन्ती—भावी प्रत्येक पग पर, उसे निश्चय ही अपने हाथ में, आया समझती थी (कि अब की पकड़ लूंगी, पर पकड़ नहीं पाती थी), इस प्रकार खेल के साथ चलता हुआ वह हंस कृशाङ्गी दमयन्ती को, चकमा देकर, लताओं के बीच ले गया ॥ ११ ॥

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥१२॥

रुषेति। रुषा निषिद्धालिजनां = निवारितसखीजनां, **एनां यदा [छाया-द्वितीयां]** छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनीं, **कलयांचकार** = विवेद; **तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं** = स्वेदाम्बुलवपरिष्कृतशरीरां स्विन्नगात्रां तां **स** = हंसः **कीरवत्** = शुकवत् **[मानुषवाक्]** मनुष्यस्येव वाग्यस्य स सन् **अवादीत्**।१२।

रुष्ट होकर, जिसने अपनी सखियों को साथ आने से मना कर दिया था, अपनी परिछाईं के अतिरिक्त जिसके साथ और कोई दूसरी सहेली नहीं थी एवं परिश्रम के कारण जिसके अङ्ग पर पसीने की बूँदें झलक रही थीं—ऐसी दमयन्ती से हंस, तोते की तरह, मनुष्य की बोली, बोलने लगा—॥१२॥

अये! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम्।
उदेति ते भीरपि किन्नु बाले! विलोकयन्त्या न घना वनालीः ॥१३॥

अय इति। अये! बाले! व्यर्थं कियद्दूरं यावदुपैषि = उपैष्यसि ? 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'। **किमर्थं परिश्राम्यसि वा? घनाः** = सान्द्राः, **वनालीः** = वनपंक्तीः **विलोकयन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्नु ?** ॥१३॥

अरी! कितनी दूरतक पीछा करती रहोगी? ऐसा व्यर्थ परिश्रम क्यों कर रही हो? अरी बाले! वनों की इस घनी कतार को देखकर भी, क्या तुम्हें डर नहीं लग रहा है? ॥१३॥

वृथार्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनालिः ॥१४॥

वृथेति। वृथा=व्यर्थमेव। न पन्था अपथम्। 'ऋक्पूः' इत्यादिना समासान्तः

अः । 'अपथ नपुंसक' तस्मिन्, **अपथे**=दुर्मार्गे, अकृत्ये च; पदं=पादं, व्यवसायं च; **अपयन्तीं** = कुर्वन्तीं । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । [**मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः**] मरुता ललन् चलन्, पल्लव एव पाणिस्तस्य कम्पैः, **कपोतहुङ्कारगिरा** च **इयं वनालिः आली इव** = सखी इव, **त्वां प्रतिषेधति** = निवारयति । **पश्य** । इति वाक्यार्थः कर्म । यथा लोके अमार्गप्रवृत्तं सुहृज्जनः पाणिना वाचा च वारयति, तद्वदित्यर्थः । अत एव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाश्रयणं, तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा ॥१४॥

तुमको कु-पथ (मेरे पकड़ने के असम्भव कार्य; कुमार्ग) पर पद (परिश्रम; पैर) अर्पण (करते; रखते) करते देखकर, पवन से चञ्चल हुए पल्लव रूपी हाथ को हिलाकर और कबूतरों की 'हुँ'कार रूप बोली से, देखो,—यह वनाली (वन-श्रेणी) आली (सखी) के समान, तुम्हें मना कर रही है ॥१४॥

धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।
अहो ! शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाप्यनेन ॥१५॥

धार्य इति । [**वसुधैकगत्या**] एकत्रैव गतिर्यस्यास्तया एकगत्या, वसुधायामेकगत्या, भूमात्रचारिण्येत्यर्थः । शिवभागवतवत्समासः । **भवत्या वियद्विहारी** = खेचरोऽहं **कथङ्कारं** = कथमित्यर्थः । 'अन्यथैवं कथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' इति कथंशब्दोपपदात्करोतेर्णमुल् । **धार्यः** = धर्तुं ग्रहीतुं शक्य इत्यर्थः । 'शकि लिङ् च' इति चकाराच्छक्त्यार्थे कृत्यप्रत्ययः । **अनेन स्मरस्य सख्या** = सखिना तदुद्दीपकेन वयसा **यौवनेन** । सखिशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः । **तव शिशुत्वं** = शैशवं **न खण्डितं** = न निवर्त्तितं । **अहो** = विरुद्धवयसोरेकत्र समावेशादाश्चर्यमित्यर्थः । अत्राधार्यत्वस्य वसुधागतिवियद्विहारपदार्थहेतुकत्वादेकः काव्यलिङ्गभेदः, तथा शैशवाखण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वादपर इति सजातीयसङ्करः ॥१५॥

भला बताओ तो सही कि तुम मुझे कैसे पकड़ोगी ? क्योंकि मैं आकाश में विहार करने वाला हूँ और तुम्हारी गति एकमात्र पृथ्वी पर ही है । कामदेव के मित्र इस नव-यौवन से तुम्हारा शैशव नहीं खण्डित हुआ—यही बड़े आश्चर्य की बात है (कहाँ तो यह युवावस्था और कहाँ ऐसी बाल-सुलभ चपलता) ॥१५॥

सहस्रपत्रासन-पत्र हंस-वंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः ।

अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥१६॥

अथ प्रस्तुतोपयोगितया निजान्वयं निवेदयति—सहस्रेति। [सहस्रपत्रासन-पत्र-हंस-वंशस्य] सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य, पत्रहंसा वाहनहंसाः, तेषां वंशस्य कुलस्य, वेणोश्च, पत्राणि = वाहनानि, पर्णानि च। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे'। 'पत्रं वाद्वाहने पर्णे' इति च विश्वः। पतत्रिणः स्मः = ब्रह्मवाहनहंसवंश्याः वयमित्यर्थः। अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशाम् = अस्मद्विधानाम्। 'त्यदादिषु' इत्यादिना दृशेः क्विन्। [चाटुरसामृतानि] चाटुषु सुभाषितेषु, ये रसाः शृङ्गारादयः, त एव अमृतानि। [स्वर्लोक-लोकेतर-दुर्लभानि च] स्वर्लोके लोका जनाः। 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। तेभ्यः इतरैर्मनुष्यैर्दुर्लभानि लब्धुमशक्यानीत्यर्थः ॥१६॥

कमलासन (ब्रह्मा) के पत्र (वाहन) हंस के वंश (कुटुम्ब, बाँस) के पत्र (पत्ते) रूप हम पक्षी हैं (अर्थात् जिस प्रकार बाँस में पत्ते उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार ब्रह्मा के वाहनभूत हंस के कुल में हमारी उत्पत्ति हुई है. यह हमारा वंश-परिचय है)। इसलिए मेरे जैसे (उच्च कुलोत्पन्न) पक्षियों की प्यारी और मीठी बात में जो रसामृत भरा है, वह—स्वर्गलोक में निवास करनेवाले देवताओं के अतिरिक्त—सामान्य मनुष्यों को दुर्लभ है ॥१६॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥१७॥

अथ स्वाकारस्य कनकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति। [स्वर्गापगा-हेममृणालिनीनां] स्वर्गापगा स्वर्णदी, तस्या हेममृणालिन्यः कनककमलिन्यः, तासां [नाला-मृणालाग्र-भुजः] या नालाः काण्डाः, यानि मृणालानि कन्दाश्च। अत्र नालमृणालशब्दस्य शब्दानुशासनं केषां शब्दानामितिवत्समासे गुणभूतेन सम्बन्धः सोढव्यः। नाला नालमथास्त्रियौ' इत्यमरवचनान्नालेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः, न च तत्रापि सन्देहः। तद्व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च, स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात्; तथा च दशमे सर्गे प्रयोक्ष्यते। 'मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया' इति। 'नाला स्याद्बिसकन्दः' इति विश्वः। तेषामग्राणि भुञ्जत इति तद्भुजः, वयमिति शेषः। अन्नानुरूपाम् = आहार-सदृशीं [तनु-रूप-ऋद्धिं] तनोः शरीरस्य, रूपऋद्धिं वर्णसमृद्धिम् 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। भजामः = प्राप्ता स्म इत्यर्थः। तथा हि—कार्यं = जन्यं द्रव्यं, निदानात् = उपादानात्। 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानता। गुणान् = रूपादिविशेष-गुणान्, अधीते = प्राप्नोतीत्यर्थः। प्रातिस्विकसाजात्येनतत्सामान्यलक्षणात्, प्रायेण

आहारपरिणतिविशेषपूर्विका ... कार्यकान्तिरेव इति भावः । सामान्येन विशेष-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १७

स्वर्ग की मन्दाकिनी नदी की स्वर्ण-कमलिनी के दण्ड और मृणालतन्तु के अग्रभाग को खानेवाले हम हैं। अतः खाद्य-सामग्री के अनुकूल ही हमें शरीर के सौन्दर्य की समृद्धि (पीलापन) प्राप्त हुई है ; क्योंकि 'कारण' से ही 'कार्य' (रूपादि) गुणों को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरः सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥१८॥

अथात्मनः क्ष्मालोकसञ्चरणे कारणमाह—**धातुरिति** । **धातुः** = ब्रह्मणो **नियोगात्** = आदेशात् , **इह** = भूलोके **नैषधीयं** = नलीयं **लीलासरः सेवितुं** = क्रीडासरसि विहर्तुमित्यर्थः । **आगतेषु हैमेषु** = हेमविकारेषु । विकारार्थेऽण् प्रत्ययः । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । **हंसेषु** मध्ये **अहमेक एव** [**भूलोक-विलोकनोत्कः**] भूलोकविलोकने उत्कः उत्सुकः सन् । 'दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यादुत्क उन्मनाः' इत्यमरः । उच्छब्दात्कन् प्रत्ययान्तो निपातः । **भ्रमामि** = पर्यटामि ॥१८॥

ब्रह्मा के आदेश से, मर्त्यलोक में नल के क्रीडा-सरोवर में, विहार करने के लिए आये हुए, स्वर्णमय हंसों में से, केवल एक मैं ही, भूलोक देखने की उत्सुकता के कारण, (अब तक) विचरण कर रहा हूँ ॥ १८ ॥

विधेः कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥१९॥

अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह—**विधेरिति** । **कदाचिद्विधेः**=ब्रह्मणो **भ्रमणीविलासे** = भुवनभ्रमणविनोदे **श्रमातुरेभ्यः** = अवसन्नेभ्यः **स्वमहत्तरेभ्यः** = स्वकुलवृद्धेभ्यः **स्कन्धस्य** = अंसस्य । 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसो स्त्री' इत्यमरः । **विश्रान्तिम् अदां** = प्रादाम् , स्वयमेक एवाहमित्यर्थः । ददातेर्लुङि । 'गातिस्था' इत्यादिना सिचो लुक् । **तदादि** = तत्प्रभृति [**अविश्रम-विश्वगः**] अविश्रमम् अनवरतं । 'नोदात्तोपदेशे'इत्यादिना श्रमेर्घञि वृद्धिप्रतिषेधः । विश्वगो विश्वं गच्छन्नपि । अन्यत्रापि दृश्यत इति गमेर्डप्रत्ययः । **न श्राम्यामि** = न खिद्ये ।१९।

एक समय की बात है कि ब्रह्मा के भ्रमण-विलास में, थके हुए, अपने पूर्व-

ों के कन्धों को विश्राम (आराम) दिया था; तभी से अखिल विश्व की अन-
त प्रदक्षिणा करने पर भी मैं (ब्रह्मा के वरदान तथा अपने पूर्वजों के आशी-
र् से) थकता नहीं ॥१६॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित् पाशादिरासादितपौरुषः स्यात् ।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥२०॥

अथ व्याधादिबन्धनभयमपि न मेऽस्तीत्याह--बन्धायेति । **मादृशि दिव्ये** र्श्चि विषये **विरलोदयस्य** = दुर्लभजन्मनो **नरस्य** = मर्त्यस्य, प्रायेणैवंविधो लीत्यर्थः । अन्यत्र, विरो विगतरेफः, स चासौ लोदयो लोदयवांश्च । मत्वर्थीयोऽ- ः । तस्य रेफस्थानाधिष्ठितलकारस्य नलस्येत्यर्थः । शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते । स्वर्भोगभाग्यं] भुज्यत इति भोगः सुखं, स्वर्भोगस्य स्वर्गसुखस्य भाग्यं, तत्प्राप- दृष्टमित्यर्थः । स्वप्राप्तेस्तत्प्रापकत्वादिति भावः । **तत् एकं विना कश्चित्** शादिः=पाशाद्युपायः । **बन्धाय**=बन्धनार्थम् **आसादितपौरुषः**=प्राप्तव्यापारो **स्यात्** । स्वर्भोगभाग्यैकसुलभा वयं, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थः । अस्मादृक्संसर्गा- न्यः को नाम स्वर्गपदार्थ इति भावः ॥२०॥

धरती पर विरले ही जन्म लेनेवाले, किसी मानव के, स्वर्गलोक में भोग रने योग्य असाधारण भाग्य के विना, मुझ जैसे दिव्य पक्षी को बन्धन में पकड़ने के लिए, किसी पाश आदि की इतनी शक्ति नहीं है ॥२०॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥२१॥

तच्च भाग्यं नलस्यैवास्तीत्याह--**इष्टेनेति** । **इष्टेन** = यागेन **पूर्तेन** = खाता- दिकर्मणा **च** । 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणि' इत्यमरः । **वश्याः**=वशङ्गताः । 'वशंगतः' इति प्राग्दीव्यतीयो यत्प्रत्ययः । **अमर्त्याः** = देवाः, **नलस्य, अत्र**= भूलोके, **अपि स्वर्भोगं सृजन्ति** = स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः । ननु देवाश्च कथं लोकान्तरकालान्तरभोग्यं स्वर्गमिदानीं सृजन्तीत्याशंकां दृष्टान्तेन परिहरति—**मही- रुहाः** = वृक्षाः [**दोहद-सेक-शक्तेः**] दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य, सेकस्य जलसेकस्य शक्तेः सामर्थ्यात् । [**आकालिकं**] समानकालावाद्यन्तौ उत्पत्तिविनाशा- वस्येत्याकालिकः, उत्पत्त्यनन्तरविनाशीत्यर्थः । 'आकालिकडाद्यन्तवचने' इति समान- कालशब्दस्याकालशब्दादेशो ठञ्प्रत्ययान्तो निपातः । प्रकृते स्वकालभवं **कोरकमुद्गि-**

रन्ति, इत्यर्थः । 'तरु-गुल्म-लतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया' इति शब्दार्णवे । दोहदवशाद्वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्य-वशाददेशकालेऽपि फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥२१॥

यज्ञ और पूर्तकर्म (कुँआ बावली खुदवाने) के कारण वशीभूत हुए देवता लोग--नल के लिए, स्वर्गीय उपभोगों को, यहीं (मर्त्य लोक में ही) उसी प्रकार प्रदान करते हैं, जिस प्रकार धूपदान और सिंचाई की शक्ति के कारण, पेड़--अनवसर में (अर्थात् अपने फलने-फूलने के समय के पूर्व ही) कलियों को प्रस्फुटित करते हैं ॥२१॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः ।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः ॥२२॥

स्वर्भोगमेवाह--सुवर्णेति । **सुवर्णशैलात्** = मेरोः, तूर्णम् **अवतीर्य** = अवरुह्य **स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः** = मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः [**चामर-बद्ध-सख्यैः**] चामरेषु बद्धसख्यैः, तत्सदृशैः **पक्षैः** = पतत्रैः **स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः** । तादृक्पक्षवीजनैः सुरतश्रान्तिमपनुदाम इत्यर्थः ॥२२॥

हम सुमेरु पर्वत से झट उतर कर, मन्दाकिनी की जल-बूँदों से सिक्त और चँवर के साथ मित्रता में बँधे हुए (अर्थात् चँवरतुल्य सफेद रंग के) अपने पंखों से, सम्भोग के समय नल को हवा करते हैं ॥२२॥

क्रियेत चेत् साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत् क्षमानामपदं बहु स्यात् ॥२३॥

क्रियेतेति । **साधुविभक्तिचिन्ता**=सज्जनविभागविचारः **क्रियेत चेत् सा**=नलाभिधाना **व्यक्तिः**=मूर्तिः **प्रथमाभिधेया** = प्रथमं परिगणनीया । कुतः ? **या**=व्यक्तिः **स्वौजसां विलासैः** = व्याप्तिभिः, **तावद्बहु** = तथा प्रभूतं । [**अनाम-पदं**] नास्ति नामो नतिर्यस्येति अनामम्, अनम्रं पदं पदराष्ट्रं **साधयितुं**=स्वायत्तीकर्तुं **क्षमा** = समर्था **स्यात्** । अन्यत्र, **साधुविभक्तिचिन्ता** = सत्यविभक्तिविचारः, **क्रियेत चेत् तदा सा प्रथमा व्यक्तिः** = प्रथमाविभक्तिः, **अभिधेया**=विचार्या, **या स्वौजसां** = सु, औ, जस् इत्येतेषां प्रत्ययानां, **विलासैः**=विस्तारैः **तावद्बहु**=अनेकं **नामपदं**=सुबन्तपदं, वृक्ष इत्यादिकं पदं, **साधयितुं**=निष्पादयितुं, **क्षमा** ।

...त्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रितत्वाल्लक्षणायाश्चानुपपत्त्यभावेनाभावादप्रकृतार्थ-प्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥ २३ ॥

यदि सदाचारी पुरुषों के वर्गीकरण (विभक्ति) का विचार किया जाय तो नल का व्यक्तित्व पहले परिगणन किया जायगा— जो (व्यक्तित्व) अपने तेज के प्रभाव से असंख्य शत्रु-राष्ट्रों के समस्त स्थल को अपने अधीन करने में, पूर्णतया समर्थ है।

(पक्षान्तर में) यदि प्रथमा आदि ७ विभक्तियों में कौन-सी विभक्ति साधु (सबसे उत्तम) है—इसका विचार किया जाय तो 'प्रथमा' नामक विभक्ति (व्यक्ति) मूर्द्धन्य स्थान में गिनी जायगी; जो (प्रथमा विभक्ति) 'सु-औ जस्-' इन प्रथमाविभक्ति घटक एक-द्वि-बहु वचनों के विलास (विसर्गादि रूप परिणाम) से वाक्यालङ्कार में नाम (सुबन्त) और पद (रामो हरिः इत्यादि प्रयोग) के साधने के लिए पूर्णतया समर्थ है ॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाध्वराज्योपमयेव राज्यम् ।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम् ॥२४॥

श्रितश्रोत्रियसा-राजेति । यज्वा तु विधिनेष्टवान् । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' [श्रितश्रोत्रिय-सात्कृतश्रीः] श्रिताः आश्रिताः ये श्रोत्रियाः छान्दसाः, अधीतवेदा इत्यर्थः । 'श्रोत्रिय-च्छान्दसौ समौ' इत्यमरः । 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' इति निपातः । तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता, श्रीः सम्पद्येन सः राजा=नलः, [अध्वराज्योपमया एव] अध्वरेषु यज्ञेषु, यदाज्यं तदुपमया तत्सादृश्येनैव, तद्वदेवेत्यर्थः । राज्यं, [विबुधव्रजत्रा] विबुधा देवाः विद्वांसश्च, तद्व्रजत्रा दानेन तत्सङ्घाधीनं कृत्वा 'देये त्रा च' इति चकारादितरत्र सातिप्रत्ययश्च । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वम् । **पूर्वं** = पूर्व-निर्दिष्टमध्वराज्यं **शेष** = हुतशेषं **भुंक्ते** । **अन्त्यं** = पश्चान्निर्दिष्टं राज्यं त्वशेषं = कृत्स्नमखण्डं **भुङ्क्ते** । **अहो** ! उपयुक्तादन्यः शेषः । पूर्वस्याशेषस्य तथात्वं अन्त्यस्य अशेषत्वं कथं विरोधादित्याश्चर्यम् । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः । अखण्डमिति परिहारः ॥ २४ ॥

वह राजा विधान के साथ यज्ञ करनेवाला है और अपने आश्रित श्रोत्रिय (वेदज्ञ षट्कर्मा) ब्राह्मणों के अधीन अपनी राज्यलक्ष्मी कर दी है। जिस प्रकार वह विबुध समूहों (देवताओं) के 'देय' (अधीन) करने के बाद यज्ञ का 'आज्य' ग्रहण करता है उसी प्रकार विबुध-समुदाय (विद्वानों) के अधीन करने

के बाद राज्य का उपभोग करता है। लेकिन आश्चर्य की बात है कि 'पहले' का 'शेष' और 'पिछले' का 'अशेष' उपभोग करता है। (इसमें विरोधाभास अलङ्कार है कि जो पहले ग्रहण किया गया उसका शेष कैसा ? और जो पीछे उपभोग किया उसका अशेष कैसा ? तो इसका परिहार यह है कि 'आज्य' का यज्ञ से बाकी बचा हुआ भाग लेता है और 'राज्य' का अशेष (समूचा) उपभोग करता है ॥

दारिद्र्य-दारि-द्रविणौघ-वर्षैरमोघ-मेघ-व्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥२५॥

दारिद्र्येति। [दारिद्र्य-दारि-द्रविणौघ-वर्षैः] दारिद्र्यं दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्यदारिणो द्रविणौघस्य धनराशेर्वर्षैः, **अर्थिसार्थे** विषये **अमोघमेघव्रतं** वर्षुकत्वलक्षणं यस्य तं। **सन्तुष्टं** = दानहृष्टं **इष्टदेवं** = यज्ञाराधितसुरं **लोकनाथं**, **तं** = नलं, **के नाम इष्टानि** = ईप्सितानि **न नाथन्ति**=न याचन्ते सर्वेऽपि नाथन्त्येवेत्यर्थः। नाथतेर्याच्ञार्थस्य दुहादित्वात् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

दरिद्रता को विदारण करनेवाले, धनसमूहों की वर्षा द्वारा, याचक-समुदाय को मेघ-वर्षा के समान सन्तुष्ट कर देने का जिसका अव्यर्थ नियम है--ऐसे सन्तोषयुक्त (याचकों के माँगने पर भी विरक्त भाव न रखने वाले), इष्ट-देव (लोकप्रिय, देव-तुल्य) और लोकनाथ (भूपति) नल से—ऐसा कौन व्यक्ति है जो अपने अभीष्ट की याचना न करता हो ? ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरम्भामतुलां नलस्य ।
तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥२६॥

अस्मदिति। **सा** = प्रसिद्धा **रम्भा, नलस्य, अतुलम्** = अनुपमां, **भां** = सौन्दर्यं **चिरं अस्मत्** = मत्तः **श्रोत्रसुधां विधाय** = कर्णे अमृतं कृत्वा, रसादाकर्ण्येत्यर्थः। **तत्र** = तस्मिन्नले, **अनुरक्ता** सती **तं** = नलम् **अनाप्य** = अप्राप्य। आङ्पूर्वादाप्नोतेः क्त्वो ल्यबादेशः नञ्समासः। अन्यथा त्वसमासे ल्यबादेशो न स्यात्। **तन्नामगन्धात्** = तस्य नलस्य नामाक्षरसंस्पर्शाद्धेतोः, **नलकूबरं** = कुबेरात्मजं **भेजे किल**। तादृक् तस्य सौन्दर्यमिति भावः ॥२६॥

रम्भा (नाम की त्रैलोक्यसुन्दरी अप्सरा) हमसे नल के अनुपम लावण्य के बारे में बहुत दिनों तक अपने कर्णामृत द्वारा श्रवणकर,—उन पर अनुरक्त

हो गयी; पर उन्हें न पाकर, उनके नाम के प्रथमांश के मिलते-जुलते अक्षर होने
के कारण नल-कूबर के साथ विहार करने लगी ॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान् निपीय ।
हा हेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत् ॥२७॥

स्वर्लोकमिति । केलीषु = विनोदगोष्ठीषु, [तद्गानगुणान्] तस्य नलस्य,
कर्तुर्गाने गुणान् , निपीय = आस्वाद्य, इतः = अस्माल्लोकात् स्वर्लोकं प्रयातैर-
स्माभिः, हरिगायनः = इन्द्रगायको गन्धर्वः । 'ण्युट् च' इति गायतेः शिल्पिनि
ण्युट्प्रत्ययः । गायन् यत् = यस्मात् हा हा इत्यशोचि = शोचितः तेनैव = कार-
नाम्ना हाहा बभूत् , आलापाद्धरानुकारादिति भावः । 'हाहा हूहूश्चैवमाद्या
गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्' इत्यमरः । आलापाद्धरानुकारनिमित्तोऽयम् हाहाशब्दा-
कारान्तः, पुंसि चेति केचित् । 'हाहा खेदे, हूहू हर्षे, गन्धर्वेऽमू त्वनव्यये' इति
विश्वः । अव्ययमेवेति भोजः । अत्र शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धादतिशयोक्तिः ।
तथा च गन्धर्वातिशायि गानमस्येति वस्तु व्यज्यते ॥२७॥

संगीत-परिषद् में नल के गायन के (ताल लय शुद्धि माधुर्यादि) गुणों को
सादर सुनकर, यहाँ (मर्त्यलोक) से स्वर्गलोक जाते हमने गान करते हुए इन्द्र
के गवैयों (गन्धर्वों) को 'हा हा' (अर्थात् हा ! हा ! नल के गाने के सुनने के
बाद इसका गाना सुनकर, ऐसा आभास होता है मानों कोयल की सुरीली तान
सुनकर, कोई मेढ़कों की टर्र-टर्र की आवाज़ सुने) ऐसा कहकर जो शोक प्रकट
किया उससे (इन्द्र के गायक का) नाम ही 'हाहा' पड़ गया ॥ २७ ॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः ।
पुण्येन नालोकत नाकपालः प्रमोद-बाष्पावृत-नेत्र-मालः ॥२८॥

शृण्वन्निति । नाकपालः = इन्द्रः, सदारः = सवधूकः, [तदुदारभावं]
तस्य नलस्य, उदारभावमौदार्यं शृण्वन् अत एव [प्रमोद-बाष्पावृत-नेत्र-
मालः] प्रमोदबाष्पैः आनन्दाश्रुभिः, आवृतनेत्रमालस्तिरोहितदृष्टिव्रजः सन् , पुलो-
मजायाः = शच्याः, मुहुर्हृष्यत् = नलानुरागादुल्लसत् , लोम = रोमाञ्चं पुण्येन = शच्या
भाग्येन, नालोकत = नापश्यत् । अन्यथा, मानसव्यभिचारापराधाद्दण्ड्यैवेत्यर्थः ॥२८॥

नल के उदारभाव को सुनकर, स-पत्नीक अमरावती-पति इन्द्र के (सहस्र)
नेत्र आनन्दाश्रु के कारण, मूँद से गये । अतः वे (पर-पुरुष के गुणों को सुनकर,

कामवासना ... होने के कारण) हर्षित होती हुई इन्द्राणी के रोमाञ्च को, उसके पुण्य-प्रताप से नहीं देख पाये (अन्यथा उसे अ-सती समझकर, उसका परित्याग कर देते) ॥ २८ ॥

साऽपीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः ।
अभूदपर्णाङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ॥ २९ ॥

सेति । ईश्वरे = हरे प्रसह्य चेतो हरतः = बलान्मनोहारिणः [तद्गुणौघान्] तस्य नलस्य, गुणौघान् शृण्वति सति । सा = प्रसिद्धा, अर्धं शम्भोरर्धशम्भुः = शम्भोरर्धाङ्गभूतेत्यर्थः । तथा चापसरणमशक्यमिति भावः । अपर्णा = पार्वती अपि कदा कण्डूयनकैतवेन = कण्डूनोदनव्याजेन [अंगुलिरुद्धकर्णा] अङ्गुल्या रुद्धः पिहितः, कर्णौ यया सा, नाभूत् = अभूदेवेत्यर्थः । अन्यथा, चित्तचलनादिति भावः ॥ २९ ॥

महेश्वर शिवजी के—बलात् चित्त को आकृष्ट करनेवाले नल के (विविध) गुण-गणों के सुनने पर, अर्द्धाङ्ग जिसके शिवजी हैं ऐसी पतिव्रता (जिसने उनकी प्राप्ति के लिए उत्कट तपस्या करते समय पर्णाशन करना भी छोड़ दिया था, उस) अ-पर्णा पार्वती ने भी, कान खुजलाने के बहाने, कब अंगुलियों से अपने कान बन्द नहीं किये ? (अर्थात् ऐसे अवसरों पर, वे सदा कानों में अंगुलि डाल लिया करती थीं; क्योंकि आधे अङ्ग में शिव जी के होने के कारण वे वहाँ से हट नहीं सकती थीं और दूसरी ओर नल का गुणानुवाद सुनने से, चित्त में विकार उत्पन्न होने पर उनका पातिव्रत्य भङ्ग होता) ॥ २९ ॥

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

अलमिति । विधाता=ब्रह्मा, अलम् = अत्यन्तं, धर्मविधौ = सुकृताचरणे सजन् = धर्मासक्तः सन्नित्यर्थः । वाणीं = स्वभार्यां वाग्देवीं वर्णात्मिकाञ्च, मौनस्य= वाग्यमनव्रतस्य, मिषेण रुणद्धि । नलकथाप्रसङ्गान्निरुन्धे तस्या उभय्या अपि तदासङ्गभयादिति भावः । किन्तु, वेदजडः = छान्दसः स = विधाता ताम् = उभयीमपि वाणीं । [तत्कण्ठं] तस्य नलस्य, कण्ठं ग्रीवाम् आलिङ्ग्य सुखमाश्रित्य च, रसस्य तृप्तां = तद्रागसन्तुष्टाम्, अन्यत्र शृङ्गारादिरसपुष्टाञ्च । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । 'पूरणगुण... इत्यादिना षष्ठीनिषेधादेव ज्ञापकादिति केचित् । वक्रां = प्रति-

[मुख]कारिणीं, वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ताञ्च, **न वेद = न वेत्ति ।** 'विदो लटो वा' इति [णल]ादेशः । अशक्यरक्षाः स्त्रिय इति भावः । यत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस्तुतवर्णा-[न]कवाणीवृत्तान्तप्रतीतेः प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥३०॥

सन्ध्या-वन्दन आदि धर्मानुष्ठान में आसक्त हुए ब्रह्मा, मौन रहने के बहाने, [अप]नी भार्या वाणी (सरस्वती) को जो हृदय के भीतर रोके रहते हैं, वह उनका [प्र]यास व्यर्थ है क्योंकि उनकी पत्नी नल के कण्ठ का आश्रय लेकर, (शृंगारादि) [र]स से तृप्त (पूर्ण) तथा वक्रोक्ति-बाहुल्य से कर्कशा हो गयी है — इस बात का [प]ता, सदा वेद का पाठ करते-करते, दूसरे सांसारिक विषयों से अनभिज्ञ रहनेवाले [बू]ढ़े विधाता को नहीं है । [जिस प्रकार कोठरी के भीतर ताला में बन्द की हुई, [सं]सारिक अनुभवों से शून्य किसी वृद्ध की, पर-पुरुष-परायणा युवती पत्नी किसी उपाय से बाहर निकल कर, अपने उपपति के कण्ठ से लिपट कर, उसके द्वारा 'रस-तृप्त' (प्रेम-प्रदर्शक-कर्म सम्भोग से सन्तुष्ट) होती है और वह कितनी 'वक्रा' (कुटिल, खोटी) हो गयी है, इन दोनों बातों का पता उसके मूर्ख पतिदेव को नहीं होता; वह तो कोठरी में ताला बन्द कर, निश्चिन्त हो जाता है । ठीक यही दशा ब्रह्माजी की भी है, जो पूजा पाठ करने के बहाने मौन रह कर, यह सोचते हैं कि अपनी पत्नी को हृदय-मन्दिर में बन्द किये हूँ और उधर वाणी नल के पास पहुँच जाती है] ॥ ३० ॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः कापि पतिव्रतायाः ।
समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाऽणुनापि ॥३१॥

समस्तभूता- [त्म]श्रिय इति । पतिव्रतायाः **श्रियः** = श्रीदेव्याः, तद्भर्तुर्विष्णोः, **समस्तभूता-** [त्म]तया = सर्वभूतात्मकत्वेन, नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः । **तदालिङ्गनभूः** = नलाश्लेषभवा । **कापि व्रतक्षतिः**= पातिव्रतभङ्गो **न भूता** = नाभूत् । अत एव **तद्भर्तुः** = विष्णोश्च [**ईर्ष्याकलुषाणुना**] ईर्ष्यया नलालिङ्गनभुवा अक्षमया, यत्कलुषं कालुष्यं मनःक्षोभः, दुःखादित्वेन अस्य धर्मधर्मिवचनत्वात् । अत एव क्षीरस्वामी 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च' इत्यत्र आदिशब्दाच्छ्रेयः कलुषशिवभद्रादय इति उभयवचनेषु संजग्राह । तस्याणुना लेशेन **अपि, न भूतं**= नाभावि । नपुंसके भावे क्तः । अत्र शय्यादिचित्तचाञ्चल्योक्तेर्नलसौन्दर्ये तात्पर्यान्ना-नौचित्यदोषः ॥ ३१ ॥

नल का आलिङ्गन करने से, पतिव्रता श्री (लक्ष्मी, शोभा) के पातिव्रत के किसी नियम का भङ्ग नहीं हुआ और न तो उनके पति विष्णु को (पर-पुरुष को आलिङ्गन करते देखकर) ईर्ष्या का रञ्चमात्र भी कालुष्य हुआ; क्योंकि वे (विष्णु) सकल प्राणियों की आत्मा हैं ॥ ३१ ॥

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम् ।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥३२॥

धिगिति । तम् अजातलज्जं = निस्त्रपं विधेः पाणिं धिक । यः = पाणिः स्मृततन्मुखश्रीरपि, पर्वणि । जातावेकवचनम् । पर्वस्वित्यर्थः । पूर्णमिन्दुं निर्माति । अद्यापीति भावः । स विज्ञः = अभिज्ञ इति मन्ये । यः = पाणिः, स्मृततन्मुखश्रीः सन् तम् = इन्दुं । कृतः अर्द्धं एकदेशो यस्य तं कृतार्द्धम् = अनिर्मितमेव, भवमूर्ध्नि = हरशिरसि । औज्झत् = अत्यजत् । अतिसौन्दर्यमस्यास्यमिति भावः ॥ ३२ ॥

विधाता के उस निर्लज्ज हाथ को—जो नल के मुख की शोभा का स्मरण करके भी—पूर्णिमा को पूर्णचन्द्र बनाता है, धिक्कार है; पर स्यात् (मालूम पड़ता है कि) चन्द्रमा के आधा बन जाने पर, फिर उसे नल के मुख की शोभा की सुधि आ गयी इससे उसने शिवजी के मस्तक पर फेंक दिया, अतः वह हाथ वस्तुतः विज्ञ (भले-बुरे का ज्ञान रखनेवाला) है (वह धन्यवाद का पात्र है) ॥३२॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ ३३ ॥

निलीयत इति । विधुः=चन्द्रः, [स्वजैत्रं] स्वस्य जैत्रं । तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । तस्य = नलस्य मुखं, नः=अस्माकं मुखात् श्रुत्वा, ह्रीविधुरः=लज्जाविधुरः सन्, कदापि सूरे=सूर्ये, दर्शेष्वित्यर्थः, कदापि समुद्रस्य पूरे=प्रवाहे तदुत्पन्नत्वात्, कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे = अभ्रे खे, भ्रमताम् अटताम्, अभ्राणां मेघानां, गर्भे उदरे आकाशे सञ्चरमाणमेघोदरे, निलीयते=अन्तर्धत्ते, न कदाचिदपतः स्यात्तुमुत्सहत इति भावः । अत्र विधोः स्वाभाविकसूर्यादिप्रवेशे पराजयप्रयुक्तह्रीनिलीनत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥३३॥

हमारे मुख से यह सुनकर, कि नल के मुख ने, उसके मुख को (सुन्दरता में) जीत लिया है तो चन्द्रमा—लज्जा से विकल हो, कभी (अमावस्या को)

सूर्य में, कभी (सन्ध्या समय) समुद्र के ज्वार-भाटे में, कभी (बरसात के दिनों में) आकाश में चक्कर काटते हुए मेघों में—छिप जाया करता है। (ठीक ही है क्योंकि पराजय के कारण लज्जित मनुष्य अपना मुँह छिपाता रहता है) ॥३३॥

संज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्यारिरत्यब्जनलास्यनुत्यै।
तत्संकुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥३४॥

संज्ञाप्येति । दैत्यारिः=विष्णुः, [स्व-ध्वज-भृत्य-वर्गान्] स्वध्वजस्य गरुडस्य पक्षिराजस्य भृत्यवर्गान् नः=अस्मान् [अत्यब्ज-नलास्य-नुत्यै] अतिक्रान्तमब्जमत्यब्जम् अब्जविजयीत्यर्थः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थेद्वितीयया' इति समासः । तस्य नलास्यस्य नुत्यै स्तोत्राय । 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः इत्यमरः । संज्ञाप्य= संकेत्य [तत्सङ्कुचन्नाभि-सरोज-पीतात्] तत्सङ्कुचता तया नुत्या सङ्कुचता निमीलता, नाभिसरोजेन पीतात्तिरोहितात् धातुः=ब्रह्मणो विलज्जं यथा तथा रमायां रमते । अत्र विष्णोरुक्तव्यापारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥३४॥

दैत्यारि विष्णु—सुन्दरता में कमल को अतिक्रान्त करने (जीतने) वाले, नल के मुख की स्तुति करने के लिए, अपनी ध्वजा के लाञ्छन गरुड के अनुचरों—हम लोगों—को सङ्केत (आँखों से इशारा) करके, हम लोगों के द्वारा नल की स्तुति सुनने पर (अपनी पराजय समझ) सकुचते हुए नाभिकमल द्वारा पान किये जाने वाले ब्रह्मा के सन्निकट ही—लज्जारहित हो, लक्ष्मी के साथ विहार करते हैं। (ब्रह्मा भगवान् के नाभिकमल में ही सदा निवास करते हैं । अतः लज्जा के कारण उन्हें लक्ष्मी जी के साथ रमण करने का कभी सु-अवसर ही नहीं मिलता। पर जब हंस लोग नल के मुख की प्रशंसा करते हैं कि उनका मुख कमल से भी कई गुना बढ़ कर है तो लज्जा के मारे कमल संकुचित हो जाता है और ब्रह्मा जी उसके भीतर रह जाते हैं। बस, भगवान् को रमा के साथ रमण करने के लिए उपयुक्त अवसर मिल जाता है और वे बेखटके इस कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं) ॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः ।
चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधापि सन्तीति शशंस वेधाः॥३५॥

रेखाभिरिति । अस्य=नलस्य आस्ये, अन्तः दन्तमयीभिः=दन्तरूपाभिः द्वात्रिंशता रेखाभिः गणनात्=संख्यानाच्चतुर्दश चाष्टादश च विद्याः द्वेधा अपि

अत्र = आ[illegible] [illegible] इति यथा: शशिन इव इत्युत्प्रेक्षा । अत्र मनुः—'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात् । अर्थशास्त्रं परं तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृताः ॥' इति ॥ ३५ ॥

नल के मुँह में बत्तीस दाँत रूपी रेखाओं (चिह्नों) से गिन कर, ब्रह्मा मानों यों सूचित करते हैं कि यहाँ (नल के मुँह में) दोनों प्रकार की (अर्थात् किसी के मत से) १४ विद्याएँ और (किसी के मत से) १८ विद्याएँ (दोनों मतों के समन्वय रूप हो) निवास करती हैं। ('दन्तमयी' के अक्षरों को ज़रासा इधर-उधर करने पर 'दमयन्ती' शब्द बन जाता है) ॥ ३५ ॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः ।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥३६॥

श्रियाविति । **तस्य नरेन्द्रस्य, श्रियौ**=सौन्दर्यसम्पदौ, **निरीक्ष्य** । 'शोभा-सम्पत्ति-पद्मासु लक्ष्मीः श्रीः' इति शाश्वतः । **स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः** । किंच, **तस्मिन्** = नरेन्द्रे **क्षमयोः** = क्षिति-क्षान्त्योः । 'क्षिति-क्षान्त्योः क्षमाः' इत्यमरः । **सम्यग्वासेन** = निर्बाधस्थित्या, **शेषबुद्धौ** = फणिपति-बुद्धदेवौ **बुद्धौ** = चित्ते **न दध्मः** = न धारयामः **खलु** । अत्र द्वयोरपि श्रियोः द्वयोरपि क्षमयोः, प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः । एतेन सौन्दर्यादिगुणैः स्मरादिभ्योऽप्यधिक इति व्यतिरेको व्यज्यते । श्लेषयथासंख्ययोः सङ्करः ॥ ३६ ॥

नरपति नल की शोभा और समृद्धि देख कर, (क्रमशः शोभाशाली तथा समृद्धिशाली) कामदेव और इन्द्र की भी याद नहीं आती । उन में पृथ्वी और क्षमा का पूर्णतया वास देख कर, (क्रमशः पृथिवी-धारणकर्ता एवं क्षमा के अवतार) शेषनाग और गौतमबुद्ध भी चित्त में नहीं जमते ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैः समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥३७॥

विनेति । **पतत्रं विना**, स्थितैरिति शेषः । **विनतातनूजैः** = वैनतेयैः, अपक्षतार्क्ष्यैरित्यर्थः । **ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैः** = चाक्षुषवायुभिः **अनणुप्रमाणैः** अणुपरिमाणं मन इति [illegible] । तद्विपरीतमहापरिमाणैर्मनोभिर्वैनतेयादिसमान-

रौरित्यर्थः। एवंविधैः तदश्वैः कतमा दिक् न निर्जिता = लङ्घिता आसीत्, सर्वापि लङ्घितैवासीदित्यर्थः। अत्राश्वानां विशिष्टवैनतेयादित्वेन निरूपणाद्रूपकालङ्कारः॥

नल के घोड़ों ने—पंख के बिना (अर्थात् पंख रहित होने पर भी, पंख-सहित) विनतातनय गरुड की गति से, नेत्रों को दीख पड़ने वाले वायु की गति से और महापरिमाणवाले मन की गति से—किन दिशाओं को न जीता हो? (अर्थात् वे अखिल दिग्विजेता हैं) ॥ ३७ ॥

संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्रैर्नदीमातृकतां गतासु।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिः सुभिक्षम् ॥३८॥

संग्रामेति । अरीणाम् अस्रैः = असृग्भिः [**नदीमातृकतां**] नद्येव माता यासां तास्तत्ता नदीमातृकता, नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढ्यता। 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्य-म्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्' इत्यमरः। 'नद्यृतश्च' इति कप्। 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' इति पुंवद्भावः। तां, **गतासु संग्रामभूमीषु,** [**तद्बाणधारा-पवनाशनानां**] तस्य नलस्य बाणधाराः बाणपरम्परास्ता एव पव-नाशनाः सर्पाः, तेषां **राजव्रजीयैः** = राजसंघसम्बन्धिभिः, वृद्धाच्छः। **असुभिः** = प्राणवायुभिः, **सुभिक्षम्** = भिक्षाणां समृद्धि**र्भवति** । समृद्धावव्ययीभावः। नदीमातृकदेशेषु सुभिक्षं भवतीति भावः। रूपकालङ्कारः ॥३८॥

नल के द्वारा छोड़े गये (सर-सर करते हुए) बाणरूपी सर्पों को, उन्हीं बाणों से निकाली गयी वैरि-राजसमूह की प्राण-वायु को खिलाकर, वैरियों के रक्त से (अनाज उत्पन्न करने के कारण) नदी-रूप माता हुई (अर्थात् नदी बनी हुई) रणभूमि सुभिक्ष करने वाली होती है ॥३८॥

यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगाली-कूलङ्कषत्वं व्यसनं तदीयम् ॥३९॥

यश इति । संयुगेषु = समरेषु **कण्डूलभावं** = कण्डूलत्वं। 'सिध्मादिभ्यश्च' इति मत्वर्थीयो लच्। **भजता अस्य भुजेन यद्यशः अजनि** = जनितं। जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। **तदीयं** = तस्य यशःसम्बन्धि [**दिगापगाली-कूलङ्कषत्वं**] दिशः एव आपगाः नद्यः, तासां आलिः राजिः, तस्याः कूलङ्कषतीति कूलङ्कषं। 'सर्वकूल' इत्यादिना खचि मुमागमः। तस्य भावस्तत्त्वं। शिवभागवतवत्समासः। **गुणादेव** = कण्डूलत्वादेव तत्र **व्यसनम्** = आसक्तिः **हेतोः** = कारणस्य **भुजस्य,**

आतमिति दिक्कूलकषणानुमितायाः कण्डूलतायाः तत्कारणकण्डूल-भुजगुणपूर्वत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥३९॥

रण की खुजली वाली भुजा ने, समर में जो नल का यश उत्पादन किया, उस यश ने, दिशा रूपी नदीसमूह के तीर पर, अपना जो कार्य (खुजलाना) प्रारम्भ किया, इसमें 'कारण' ही गुण हुआ (अर्थात् नल की कीर्ति रूपी खुजली सभी दिशाओं में फैल गयी) ॥३९॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ।
पारेपरार्धं गणितं यदि स्याद्गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥४०॥

यदीति । किं बहुना, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी । 'तद्धितार्थ'इत्यादिना समाहारे द्विगुः । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते' । 'द्विगोः'इति ङीप् । गणनापरा = नलगुणसंख्यानतत्परा । स्याद्यदि तस्याः = त्रिलोक्याः, आयुषः समाप्तिर्न स्याद्यदि=अमरत्वं यदि स्यादित्यर्थः । परार्द्धस्य चरमसंख्यायाः पारे पारेपरार्द्धं । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति अव्ययीभावः । गणितं स्याद्यदि । परार्द्धात् परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थः । तदा स=नलोऽपि [गणेयनिःशेषगुणः] गणेया गणितुं शक्याः, निःशेषा निखिला गुणा यस्य स स्यात् । 'गणेयः'इति औणादिक एयप्रत्ययः । अत्र नलगुणानां गणेयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥

यदि तीनों लोकों के मनुष्य (नल के गुणों को) गिनने में लग जाँय, यदि उन (तीनों लोकों के मनुष्यों) की आयु की समाप्ति न हो और यदि गणित के अङ्क 'परार्ध' से भी अधिक हो जाँय; तब कहीं नल के अशेष गुणों की गणना हो सकती है ॥ ४० ॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥ ४१ ॥

एवं नलगुणाननुवर्ण्य गूढाभिसन्धिनात्मनस्तदन्तःपुरेऽपि परिचयं दर्शयति—अवारितेत्यादि । तिरश्चां = पक्षिणां अवारितद्वारतया = अप्रतिषिद्धप्रवेशतयेत्यर्थः । तस्य राज्ञः=नलस्य, अन्तःपुरे निविश्य = अवस्थाय, परमाणुमध्याः= अतिसूक्ष्ममध्यास्तदङ्गनाः, रम्येषु गतेषु = गतिषु अधिकम् = अपूर्वं, विशेषं = भेदम् अध्यापयामः = अभ्यासयामः । दुह्यादित्वाद्द्विकर्मत्वम् ॥४१॥

पक्षियों के लिए, उस राजा के रनिवास का दरवाजा सदा खुला रहने के

कारण, उसमें प्रवेशकर, परमाणु के समान पतली कमरवाली सुन्दरी रानियों को—जिनकी चाल स्वभावतः सुन्दर है उन्हें हम अधिक और विशेष प्रकार की (स्वर्गीय, दिव्य) चाल सिखाते हैं (अर्थात् स्पेशल ट्रेनिङ्ग देते हैं) ॥४१॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताद्दताभिः ॥४२॥

पीयूषेति। किं च, [पीयूष-धारानधराभिः] पीयूषधाराभ्यः अनधराभिरन्यूनाभिः, अमृतसमानाभिः, **काव्यं सृजता** = स्वयं प्रबन्धकर्त्रा। [**काव्येन**] कवेरपत्यं पुमान् काव्यः तेन शुक्रेण। 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्यः' इत्यमरः। 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' इति ण्यप्रत्ययः। **आद्दताभिः** = तस्यापि विस्मयकरीभिरित्यर्थः। [**रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः**] रम्भादीनां दिव्यस्त्रीणां सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं, तत्प्रयुक्ताभिः रहःकथाभिः, रहस्यवृत्तान्तवर्णनाभिः, **तासां** = नलान्तःपुरस्त्रीणाम् **अन्तः** = अन्तःकरणं, **रसोदन्वति** = शृङ्गाररससागरे, **मज्जयामः** = अवगाहयामः ॥४२॥

अमृत-धारा के तुल्य (अर्थात् अमृत-प्रवाह से किसी प्रकार भी न्यून न होनेवाली) और (रसात्मक वाक्य वाले) काव्य के रचयिता शुक्राचार्य से आदरपूर्वक पुरस्कृत —रम्भा आदि (देवाङ्गनाओं) के सौभाग्य (जनता के वशीकरण करने के सामर्थ्य) की एकान्त-जीवन (सम्भोग) वाली कथाओं से,—हम उनकी रानियों के अन्तःकरण को, शृङ्गार रस के उदधि में, अवगाहन कराते रहते हैं ॥

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञा-विश्वास-निक्षेप-वणिक्क्रियेऽहम्।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक् कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥४३॥

काभिरिति। किञ्च, **यत्**=यस्मात्, **तिर्यक्**=पक्षी, **कुतोऽपि**=जनात्, **न जिह्रेति**=न लज्जत **एव**। 'ह्री लज्जायाम्' इति धातोर्लट्। 'श्लौः' इति द्विर्भावः। **तिरश्चोऽपि** कश्चिज्जनो **न त्रपते**=न लज्जते। **तेन** = कारणेन, **तत्र**=अन्तःपुरे, **काभिः** = स्त्रीभिः **अहम्** [**अभिनव-स्मराज्ञा-विश्वास-निक्षेप-वणिक्**] अभिनवा अपूर्वा स्मराज्ञा रतिरहस्यवृत्तान्तः, सैव विश्वासनिक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थः। तस्य वणिक् गोप्ता, **न क्रिये** = न कृतोऽस्मि। सर्वासामप्यहमेव विस्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थः ॥

नल के रनिवास में, किन महिलाओं ने मुझे—कामदेव के नये-नये आदेश के विश्वास से, धरोहर रखनेवाला महाजन—न बनाया हो ? (जैसे किसी साहूकार के पास धरोहर की वस्तु विश्वासपूर्वक रखी जाती है, उसी प्रकार वे युवतियाँ

रति-रहस्य के [illegible] हमारे पास रख देती थीं; अर्थात् कामवासना के बारे में सभी बातें स्पष्टतः मुझसे कह देती थीं) यतः पक्षी (जानवर) किसी भी मनुष्य से लज्जा नहीं करता, अतः कोई भी व्यक्ति चिड़ियों से नहीं लजाता ॥४३॥

वार्ता च साऽसत्यपि नान्यमेति योगादरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे ।
विरिञ्चि-नानानन-वाद-धौत-समाधि-शास्त्र-श्रुति-पूर्ण-कर्णः ॥४४॥

अथ स्वस्य एवंविधविश्वासहेतुत्वमाह—**वार्तेति** । [**विरिञ्चि-नानानन-वाद-धौत-समाधि-शास्त्र-श्रुति-पूर्ण-कर्णः**] विरिञ्चेर्ब्रह्मणः नानाननैर्बहुमुखैः, वादेन व्याख्यानेन, धौतस्य शोधितस्य, समाधिशास्त्रस्य संयमविद्यायाः, श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्णः, चतुर्मुखाभ्यस्तवाङ्नियमनविद्य इत्यर्थः । अहमिति शेषः । **योगात् अरन्ध्रे** = निरवकाशे, पूर्णे **हृदि** = हृदये **यां** = वार्तां **निरुन्धे** = नियच्छामि । **सा वार्त्ता**=लोकवार्त्ता; किमुतारहस्यवार्त्तेति भावः । **असत्यपि**=विनोदार्थं कथितापि, किमुत सतीति भावः । **असत्यपि अन्यं** = पुरुषान्तरं **नैति** = न गच्छति । यथा ह्यसती दुश्चरी निरन्ध्रस्थाने निरुद्धा नान्यम् एति, तद्वदिति भावः । अतोऽहमासां विश्वास्य इति पूर्वेणान्वयः । अत्र वार्तानिरोधस्य विरञ्चीत्यादिपदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥४४॥

ब्रह्मा के नाना (चारों) मुखों के व्याख्यान-वाक्यों से परिष्कृत हुए समाधि-(योग) शास्त्र के सुनने से भरे हुए कर्णेन्द्रिय वाला मैं योग (चित्त-वृत्ति-निरोध के अभ्यास) द्वारा अरन्ध्र (निरवकाश) हृदय (चित्त) में जो (बात) रोक (रख) लेता हूँ, वह असली (परिहास में कही हुई मिथ्या) वार्ता (बात) होने पर भी, अन्य पुरुष को उस प्रकार प्राप्त नहीं होती (अर्थात् कहीं से न निकलने वाले मेरे हृदय रूपी भवन में निरुद्ध रहने के कारण किसी दूसरे मनुष्य के कान में उस प्रकार न पड़ती) जिस प्रकार योग (खिड़की दरवाजा बन्द करने आदि उपाय) द्वारा अरन्ध्र (छिद्ररहित) हृदय (घर) में जो असती (व्यभिचारिणी) रोक ली जाती है, वह मकान में बन्द रहने के कारण, रमण करने के अभिप्राय से अन्य पुरुष के पास नहीं पहुँच सकती । (तात्पर्य यह है कि मैं दम्पति के परिहास, [illegible] सन्देश को, उन दोनों के अतिरिक्त किसी

तीसरे व्यक्ति से नहीं कहता; इसी प्रकार तुम भी जो गुप्त बात कहोगी उसे नल के अतिरिक्त किसी अन्य से नहीं कहूँगा—यह विश्वास रखो) ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवानवाप्यं लभते बतान्या।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्याः ॥४५॥

अथ श्लोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति—**नलेत्यादि**। **तवानवाप्य** नलपरिग्रहाभावात् त्वया दुरापम्। 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' इति षष्ठी तृतीयार्थे। [**त्रिदिवोपभोगं**] त्रिदिवः स्वर्गः। पृषोदरादित्वात् साधुः। तस्य उपभोगं, तादृग् भोगमित्यर्थः। तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भावः। **अम्बुजिन्या दुर्लभं** = इन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुरापं **ज्योत्स्नोत्सवं** = चन्द्रिकाभोगं, [**इन्दुपरिग्रहेण**] इन्दोः कर्त्तुः परिग्रहेण, कुमुदान्यस्यां सन्तीति **कुमुद्वती** = कुमुदिनी **इव**। 'कुमुद-नडवेतसेभ्यो डमतुप्'। 'मादुपधायाश्च' इत्यादिना मकारस्य वकारः। [**नलाश्रयेण**] नलस्य कर्त्तुराश्रयेण नलस्वीकरणेन, **अन्या लभते**। '**बत**' इति खेदे। ईदृग्भोगो-पेक्षिणी त्वं बुद्धिमान्द्यात् न शोचसि, इति भावः ॥४५॥

अन्य युवती—नल के (पतिरूप) आश्रय के कारण तुमसे (नल के आश्रय के अभाव के कारण) दुष्प्राप्य—(हमारे जैसे दिव्य पक्षियों के पङ्खा झलने आदि के) स्वर्गीय सुखोपभोग को उसी प्रकार लूट रही है; जिस प्रकार कुमुदिनी नायिका—निशानायक चन्द्र द्वारा पत्नीरूप में स्वीकार कर लिये जाने के कारण—कमलिनी को दुर्लभ, प्रकाश (चन्द्रिका) रूप आनन्द को लूटती है। यह बड़े खेद की बात है (अतः तुम नल को पतिरूप में स्वीकार कर लो) ॥ ४५ ॥

तन्नैषधानूढतया दुरापं शर्म त्वयास्मत्कृतचाटुजन्म।
रसालवल्ल्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ॥ ४६ ॥

तदिति। किञ्च, **तत्** = प्रसिद्धम्, [**अस्मत्कृत-चाटु-जन्म**] अस्माभिः कृतेभ्यः प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो जन्म यस्य तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः। चाटुग्रहणं पूर्वोक्तनिजपक्षवीजनाद्युपलक्षणम्। **शर्म** = सुखं, **त्वया** [**अवाप्त-वसन्ततया**] अप्राप्तो वसन्तो यया तया, वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थः। **रसालवल्ल्या** = सहकारश्रेण्या, **मधुपानुविद्धं सौभाग्यं**—रामणीयकम् **इव** [**नैषधानूढतया**] नैषधेन नलेन, अनूढतया अपरिणीतत्वेन हेतुना, **दुरापं** = दुष्प्रापम्। तस्मात्ते नल-परिग्रहाय यत्नः कार्य इति भावः ॥ ४६ ॥

यदि आप नल के साथ ... हमारे द्वारा कहे गये—मीठे और मधुरजन्य सुख उसी प्रकार दुर्लभ होंगे; जिस प्रकार वसन्तऋतु के आगमन के पूर्व फलनेवाली आम्र-वाटिका,—भौंरों की (मीठी और मधुर) गुञ्जार से उत्पन्न सुख को नहीं प्राप्त करतीं ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य ।
अजातपाणिग्रहणासि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ॥४७॥

अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशां जनयन्नाह—तस्येत्यादि । यद् वा, । तस्य = नलस्य एव हस्तं किं न यास्यसि = यास्यस्येवेत्यर्थः । केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्टं विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः । कुतस्तावद् अद्यापि अजातपाणिग्रहणा = अकृतविवाहा असि । तवायं विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः । [रूप-स्वरूपातिशयाश्रयः] रूपं सौन्दर्यं, स्वरूपं स्वभावः, शीलमिति यावत् । तयोरतिशयः प्रकर्षः, तस्याश्रयश्चासि । योग्यगुणाश्रयत्वाच्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः ॥ ४७ ॥

अथवा कौन जानता है कि उनके साथ तुम्हारा पाणिग्रहण होगा ही नहीं? क्योंकि ब्रह्मा के अन्तःकरण में घुसकर, किसने पता लगाया है (कि आपका विवाह कहाँ होगा) ? (पर, सम्भावना इस बात से होती है कि उन्हीं के भाग्य से तुम कुँवारी रह गयी) अब तक तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं हुआ; और (दूसरे) रूपलावण्य के स्वभाव से तुम (बिना आभूषण धारण किए) असाधारण उत्कृष्टता की आधार-स्वरूपा हो ॥ ४७ ॥

निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥

सत्यं, विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निशेति । निशा=निशया । 'पद्दन्' इत्यादिना निशादेशः । शशाङ्कम् । शिवया = गौर्या गिरीशं = शिवं, श्रिया = लक्ष्म्या हरिं च योजयतो विधेः, प्रयासः = यत्नोऽपि परस्परं योग्यसमागमाय = योग्यसङ्घटनायैव, स्वारसिकः=स्वरसप्रवृत्तः प्रतीतः = प्रसिद्धः ज्ञातः । निशाशशाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि सुज्ञेय इति भावः ॥ ४८ ॥

रात्रि के साथ चन्द्रमा का, पार्वतीजी के साथ शिवजी का एवं लक्ष्मीजी के साथ विष्णु भगवान् का विवाह सम्बन्ध कराने पर, यह बात स्पष्टतया झलक

जाती है कि ब्रह्मा का भी परस्पर योग्य वर-वधू के समागम के निमित्त, स्वेच्छा-न्य प्रयत्न होता है ॥ ४८ ॥

वेलातिग-स्त्रैण-गुणाब्धि-वेणी न योगयोग्यासि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ४९ ॥

नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह—**वेलातिगेति** । [**वेलातिग-स्त्रैण-गुणाब्धि-वेणी**] वेलामतिगच्छन्तीति वेलातिगा निःसीमाः । स्त्रीणामिमे स्त्रैणाः गुणाः । 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्-स्नञौ' इति वचनात् नञ्प्रत्ययः । त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाह-भूता । त्वमिति शेषः । 'वेलाब्धिजलबन्धने; काले सीम्नि च वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति वैजयन्ती । [**नलेतरेण**] नलादितरेण **योगयोग्या** = योगार्हा, नासि, तथाहि—**मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन** = कुशसूत्रेण न संदर्भ्यते = न सङ्गुम्फ्यते । 'दृभि ग्रथने' इति धातोः कर्मणि लट् । व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४९ ॥

तुम—तट छोड़कर जानेवाली स्त्री-सम्बन्धि सौन्दर्य आदि गुण रूप समुद्र की वेणी (प्रवाह) रूपा हो (अर्थात् असाधारण विश्व-सुन्दरी हो) । अतः (असा-धारण सुन्दर) नल के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ विवाह-संयोग के योग्य नहीं हो; क्योंकि कोमल चमेली की माला—अत्यन्त कठिन, कुशा के बने हुए तागे में—नहीं पोही जाती है ॥ ४९ ॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयास्य संक्रीडति चक्रचक्रे ॥५०॥

विधिमिति । किं च, **विधिं** = ब्रह्माणं, [**नलकेलियोग्यां**] नलस्य केलेः क्रीडायाः, योग्यामर्हां, **वधूसृष्टिं** = स्त्रीनिर्माणं [**तद्यानयोग्यः**] तस्य विधेर्यानस्य रथस्य, युग्यो रथवोढा, तत्र परिचित इत्यर्थः । 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति यत्प्रत्ययः । अहम् **अपृच्छमेव** । दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् । मया **अस्य** तद्या-नस्य, **चक्रचक्र** = रथाङ्गव्रजे **संक्रीडति** = कूजति सति 'समोऽकूजने' इति वक्तव्येऽपि कूजतेर्नात्मनेपदं । **त्वन्नामवर्णा इव** मया [**कर्णपीताः**] कर्णेन पीताः गृहीताः । न केवलं लिङ्गात्, किन्त्वागमादपि ज्ञातोऽयमर्थ इत्यर्थः ॥५०॥

ब्रह्माजी का रथ चलाते हुए, (एक बार) मैं—नल की क्रीडा के योग्य वधू की सृष्टि के बारे में—ब्रह्मा से पूछ बैठा (कि आपने नल के योग्य कोई रमणी

बनायी है ?) तो रथ के पहिये की घरघराहट में, तुम्हारे नाम के अक्षरों की तरह (मिलते-जुलते) अक्षर, मेरे कानों में सुनायी पड़े ॥ ५० ॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरी स्यात् ॥५१॥

अन्येनेति । किं च, **अन्येन** = नलेतरेण पत्या, त्वयि **योजितायां** = घटितायां सत्यां **विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः** = अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो **विधातुर्वा** । **जनापवादार्णवम् उत्तरीतुं** = निस्तरीतुम् । 'वृतो वा' इति दीर्घः । **कतमा विधा** = कः प्रकारः, **तरी** = तरणिः **स्यात्**; न कापीत्यर्थः । 'स्त्रियां नौस्तरणिः तरिः' इत्यमरः । अतो दैवगत्यापि स एव ते भर्तेति भावः ॥५१॥

अथवा, तुम्हारा नल के अतिरिक्त अन्य पति के साथ समागम करके, सर्वज्ञता की ख्याति के साथ जीवन व्यतीत करने वाले ब्रह्मा को, लोकापवाद रूप सागर के लिए, पार जाने के लिए किस तरह की नाव मिलेगी ? (अर्थात् यदि अन्य व्यक्ति के साथ तुम्हारा विवाह हुआ तो ब्रह्माजी की जिन्दगी भर की कमाई नेकनामी—में बट्टा लग जायगा । इस कलङ्क को वे किसी प्रकार भी मिटा न सकेंगे) ॥ ५१ ॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयालं मयासि तन्वि ! श्रमितातिवेलम् ।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥५२॥

इत्थमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति—**आस्तामिति** । **तत्** = पूर्वोक्तम् , **आस्तां** = तिष्ठतु; **अप्रस्तुतचिन्तया अलं**, तया साध्यं नास्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया । अत एवाह 'न केवलं श्रूयमाणक्रियापेक्षया कारकोत्पत्तिः । किन्तु गम्यमानक्रियापेक्षयाऽपि' इति न्यासकारः । किन्तु हे **तन्वि** ! = कृशाङ्गि ! **मया अतिवेल** = अत्यर्थं **श्रमिता** = खेदिता **असि** । श्रमेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । **तत्** = श्रमणरूपम् **आगः** = अपराधं, **परिमार्ष्टुकामः**=परिहर्तुकामः । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । **सोऽहं किं तवेप्सितं** = तव मनोरथं **विदधे** = कुर्वे; **अभिधेहि**=ब्रूहि ॥

बस, इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त कर देना चाहिए । अप्रासङ्गिक विचार (विवाह सम्बन्धी चर्चा) व्यर्थ है (उससे क्या लाभ ?) हे कृशोदरी ! मैंने तुम्हें बहुत देर थकाया है । अतः उस (श्रमकष्टरूपी) अपराध के क्षमा कराने के

अभिप्राय से, तुम्हारे किसी अभीष्ट को पूरा करना चाहता हूँ। तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूरा करूँ—सो बतला दीजिए ॥ ५२ ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥५३॥

इतीति । स पत्री = हंसः, इति ईरयित्वा [राजपुत्रीहृदयं] राजपुत्र्या भैम्याः, हृदयं बुभुत्सुः = जिज्ञासुः, विरराम = तूष्णीं बभूव । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदं । तथा हि, सन्तः = कार्यज्ञाः, गभीरे = अगाधे, हृदि = परहृदये ह्रदे च, अवगाढे = प्रविश्य दृष्टे सति, [कार्यावतारं] कार्यस्य स्नानादेः रहस्योक्तेश्च अवतरं तीर्थं प्रस्तावं च शंसन्ति = कथयन्ति । अन्यथा, अनर्थः स्यादिति भावः । अवतरो व्याख्यातः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥५३॥

राजकुमारी दमयन्ती के हार्दिक अभिप्राय (नल के सम्बन्ध में उसकी क्या धारणा है—इस बात) को जानने की अभिलाषा से, वह हंस इतना कहने के बाद चुप हो गया । ठीक है, गम्भीर (अत्यन्त गूढ अभिप्राय) हृद (हृदय-सरोवर) के अवगाहन (अभिप्राय जान लेने) पर ही सज्जन (विज्ञ) पुरुष कार्य (विवाह आदि कार्य का प्रस्ताव) कहते हैं, जिस प्रकार गम्भीर (खूब गहरे) हृद (तालाब) के अवगाहन (थाह जान लेने) पर ही, सत्पुरुष (स्नान करनेवाले चतुर लोग) कार्य (स्नान-क्रिया करने) के लिए प्रयास करते हैं ॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाचं मनसा मुहूर्तम् ।
पतत्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ॥५४॥

किञ्चिदिति । [किञ्चित्तिरश्चीन-विलोल-मौलिः] किञ्चित्तिरश्चीना स्वाभावादीषत्साचीभूता, विलोला आयासाद्विलुलिता मौलिः केशबन्धो यस्याः सा । 'मौल्यः संयताः कचाः' इत्यमरः । वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः = अधःकृतचन्द्रा, सा पृथिवीन्द्रपुत्री = भैमी, मुहूर्तम् = अल्पकालं मनसा वाच्यं = वचनीयं विचिन्त्य = पर्यालोच्य, पतत्रिणं, जगाद ॥ ५४ ॥

कुछ तिरछा और चलायमान शिर करके, अपने (नैसर्गिक सौन्दर्य युक्त तथा कलङ्कहीन) मुख से, चन्द्रमा को तिनके के समान तुच्छ बनानेवाली, राजकुमारी दमयन्ती—क्षणभर, चित्त में, 'क्या कहना चाहिए'—इस पर विचार करके, पक्षिराज हंस से कहने लगी ॥ ५४ ॥

धिक् चापले वत्सिम-वत्सलत्वं यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।

समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥५५॥

धिगिति । चापले = चपलकर्मणि, युवादित्वादण् । [वत्सिम-वत्सलत्वं] वत्सस्य भावः वत्सिमा शिशुत्वम् । पृथ्वादित्वादिमनिच् । तेन निमित्तेन वत्सलत्वं वात्सल्यं, बाल्यत्वप्रयुक्तचापलमित्यर्थः । तत् धिक् कुतः ? [यत्प्रेरणात्] यस्य चापलवात्सल्यस्य, प्रेरणाद् उत्तरलीभवन्त्या=चपलायमानया मया समीरसङ्गात्=वाताहतेः, उत्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या = जलवीची इव तटस्थः = उदासीनः, कूलं गतश्च त्वमुपद्रुतः = पीडितोऽसि । अतः अधर्महेतुत्वाद्बालचापलं सोढव्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

(तुम्हें पकड़ने की) चञ्चलता पर, लड़कपन के कारण स्नेह होने को धिक्कार है; क्योंकि उस (बाल-चापल्य से प्रेम होने) की प्रेरणा से ही चञ्चल होकर, मैंने तुम्हारे जैसे तटस्थ (उदासीन) मनुष्य का उत्पीडन किया; जैसे हवा के सम्पर्क (झोंके) से चञ्चल हुई लहरें, तट-स्थ (तट पर स्थित) व्यक्ति को कष्ट पहुँचाती हैं ॥

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि सतां स तावत् खलु दर्शनीयः ।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते ॥५६॥

आदर्शतामिति । स्वच्छतया = नैर्मल्यगुणेन, [आदर्शतां] आदृश्यते पुरोगतवस्तुरूपमस्मिन्निति आदर्शो दर्पणः, तत्तां प्रयासि । कुतः ? यस्य = स्वच्छस्य, ते = तव सम्बन्धिनि, सागसं = सापराधां, मां पुरस्कुर्वति = पूजयति, अग्रे कुर्वाणे च । आत्मनि = बुद्धौ, स्वरूपे च । 'पुरस्कृतः पूजिते स्यादभियुक्तेऽग्रतः कृते । आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्मणि' इति चामरः । इदं = मदीयम् आगः = अपराधः, प्रतिबिम्बितं = प्रतिफलितं । पुरोवर्त्ति धर्माणामात्मनि संक्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थः । ततः किमतः आह—सः=आदर्शः, सतां = साधूनां तावत्= प्रथमं, दर्शनीयः । अथवा पूज्यश्चेति तावच्छब्दार्थः । खलु । 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम् । गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः' इति शास्त्रादिति भावः ॥ ५६ ॥

तुम (स्वर्णमय एवं सुन्दर होने के कारण) वस्तुतः दर्शनीय जीव हो । स्वच्छ (निष्कपट) हृदय होने के कारण तुम तो सभी सत्पुरुषों के आदर्श (दृष्टान्त) रूप हो गये । (यद्यपि तुम्हारे पीछे पड़कर, मैंने तुम्हें व्यर्थ

दान किया तथापि) मुझ–अपराधिनी–को पुरस्कृत (सौन्दर्य, गुण शील आदि की प्रशंसा) करके, तुम्हारी आत्मा (चित्त) में मेरा अपराध उसी प्रकार प्रतिबिम्बत हो रहा है (अर्थात् मेरे अपराध को अपना अपराध समझकर, क्षमा कर रहे हो) जैसे स्वच्छ (निर्मल) आदर्श (दर्पण) में जो आत्मा (आकृति) पुरस्कृत (सामने खड़ी) हो, उसी का प्रतिबिम्ब (परिछाईं) दिखाई पड़ता है (तुम स्वच्छ हृदय हो, इस लिए तुम्हें सभी प्राणी पूजनीय दिखलाई पड़ रहे हैं) ॥

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत् ।
हंसोऽपि देवांशतयाभिवन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ॥५७॥

अनार्यमिति । हे **सौम्य** != साधो ! **भवान् कुमार्याः** = शिशोर्मम सम्बन्धि **अनार्यमप्याचरितं** = त्वदुपद्रवरूपं दुश्चेष्टितं **तावत्** = प्रथमं **क्षाम्यतु** = सहतां । **हंसोऽपि** = तिर्यगपीत्यर्थः । त्वमिति शेषः । भवानित्यनुषङ्गे असीति मध्यमपुरुषायोगात् । **देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा**=विष्णुः **इव अभिवन्द्यः**=वन्द्योऽसि ॥५७॥

हे सौम्य ! तुम मुझ कुमारी कन्या के (तुम्हें तङ्ग करने वाले) अनार्योचित (अर्थात् अनुचित) आचरण को, पहले क्षमा कर दो । (यदि कहो कि तुम राजकुमारी हो, किसी के अपराध को क्षमा कर देना या दण्ड देना राजपरिवार के अधीन होता है और मुझ जैसे साधारण पक्षी से क्यों क्षमा माँग रही हो, तो इसका उत्तर यह है कि) हंस पक्षी होने पर भी, तुम देवताओं के अंश से उत्पन्न होने के कारण, मत्स्य रूप धारण करने वाले, श्रीवत्स लाञ्छन-धारी विष्णु भगवान् के समान पूजनीय हो (जिस प्रकार भगवान की मत्स्य मूर्ति की पूजा होती है । उसी प्रकार तुम्हारी देवांश हंस मूर्ति भी पूजनीय है) ॥५७॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि यातिशेताम् ।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुः सृजति प्रजानाम् ॥५८॥

अथ यदुक्तं 'त्वयेप्सितं किं विदधे अभिधेहि' इति तत्रोत्तरमाह—**मत्प्रीति**मिति । **कां मत्प्रीतिं** = किंवा मदीप्सितमित्यर्थः । **आधित्ससि** = आधातुं कर्त्तुमिच्छसि । दधातेः सन्नन्ताल्लट् । **या** = प्रीतिर्मदक्ष्णोः **त्वदीक्षामुदं** = त्वदीक्षणप्रीतिम् **अपि अतिशेताम्** = अतिलंघताम्, त्वद्दर्शनोत्सवादन्यत् किं ममेप्सितमित्यर्थः । तथाहि—**इन्दुः प्रजानां** = जनानां **निजामृतैर्लोचनसेचनात् पृथक्**

= अमृत। 'पृथक्...' इत्यादिना पञ्चमी। किं वा सृजति = करोति? न किञ्चित् करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥५८॥

मेरी आँखों को—तुम्हारा दर्शन करने से—जो आनन्द प्राप्त हुआ उससे भी बढ़कर, और कौन-सा विशेष आनन्द ही रहा, जिसे तुम दोगे? क्योंकि सुधा-कर चन्द्रमा—अपनी सुधा से, जनता के नयनों को जुड़ाने (आनन्द देने) के अतिरिक्त—और क्या कर सकता है? ॥५८॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु, यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणि-ग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ॥५९॥

अथ सर्वथा मनोरथः कथनीयः इत्यभिप्रेत्य, तन्न शक्यमित्याह—**मनस्त्विति।** **मनः** = मच्चित्तं कर्तृ **यं** = मनोरथं **जातु** = कदापि **नोज्झति** = न जहाति। **स मनोरथः कण्ठपथं** = वाग्विषयं, उपकण्ठदेशं च; **कथं यातु?** सम्भावनायां लोट्। सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः। केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः। कुतः? **अभिज्ञा** = विवेकिनी, **का नाम बाला** = का वा स्त्री [**द्विजराज-पाणि-ग्रहाभिलाषं**] द्विजराजस्य इन्दोः, पाणिना ग्रहे ग्रहणे, अभिलाषं **कथयेत्**। तथा **द्विज!** = **पक्षिन्!**, **राजपाणिग्रहाभिलाषं** = नल-पाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते। तथा च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता, कथं लज्जावत्या वक्तुं शक्या इत्यर्थः। पूर्व एवालङ्कारः ॥५९॥

जिस मनोरथ को, मन अपने से कभी अलग नहीं करना चाहता, उस मनो-भाव को (मन से अलग करके) कण्ठरूपी मार्ग तक (लज्जा के कारण) कैसे ले आऊँ? (पृथ्वीतल पर रहनेवाली) कौन ऐसी विवेकिनी (समझदार) बाला है, जो (आकाश में विराजमान) द्विजराज (चन्द्रमा) को पाणि (हाथ) से ग्रहण करने (पकड़ने की) अभिलाषा को मुँह से कह सकें? (यदि भूतल पर रहनेवाली बालिका, आकाश में रहनेवाले चन्द्र को, अपने हाथ से पकड़ने की इच्छा करे और किसी से यह बात कहे तो उसका यह प्रयत्न एकदम उपहासास्पद तथा असम्भव माना जायगा) उसी प्रकार (प्रौढा नायिका की बात छोड़ दीजिए) कौन ऐसी बुद्धिमती बाला है—जो हे द्विज (हंस)! राजा (नल) के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा को, मुँह खोलकर, कह सके? ॥ ५९ ॥

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः ।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे घृणाञ्च वीणाक्वणिते वितेने ॥६०॥

वाचमिति। स हंसः मृद्वीकया=द्राक्षया। 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा'इत्यमरः। तुल्यरसां=समानस्वादां, मधुरार्थामित्यर्थः। मृद्वीं=मधुराक्षरां, तदीयां वाचं परिपीय=अत्यादरादाकर्ण्य, परपुष्टघुष्टे=कोकिलकूजिते तोषं=प्रीतिं तत्याज। वीणाक्वणिते च घृणां=जुगुप्साम्। 'घृणा जुगुप्सा-कृपयोः' इति विश्वः। वितेने॥

दमयन्ती की—अंगूर के समान मीठी रसदार (माधुर्य रस से परिपूर्ण)—कोमल वाणी का सादर पान करके, उस हंस को कोयल की (मीठी) कूक का आनन्द जाता रहा और वीणा की कुन-कुन की (मधुर तथा सुरीली) आवाज़ से भी घृणा हो गयी (अर्थात् वीणा की झङ्कार तथा कोयल की बोली से भी बढ़ कर, दमयन्ती की वाणी तथा कण्ठध्वनि में मधुरता थी) ॥६०॥

मन्दाक्ष-मन्दाक्षर-मुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः ।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥६१॥

मन्दाक्षमिति। तस्यां=भैम्यां, [मन्दाक्ष-मन्दाक्षर-मुद्रं] मन्दाक्षेण ह्रिया, मन्दा सन्दिग्धार्था, अक्षरमुद्रा द्विजराजपाणिग्रहेत्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तम् उक्त्वा समाकुञ्चितवाचि=नियमितवचनायां सत्याम् अयं हंसः, तच्छंसिते=भैमीभाषिते किञ्चन=किञ्चित् संशयालुः=सन्दिहानः सन्। 'स्पृहिगृहि' इत्यादिना आलुच् प्रत्ययः। मुखाम्भोज=मुखकमलं, गिरा युयोज=मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थः ॥६१॥

दमयन्ती के—लज्जा के कारण अल्प अक्षर ('द्विजराज-पाणि-ग्रहाभिलाषं॰') के विन्यास से—वैसा ('मन जिसे चाहता है') कहकर 'वाणी' के मौन धारण कर लेने पर, वह हंस, उसकी कही हुई ('मन जिसे चाहता है'—इस) बात पर, कुछ संशयालु हुआ (कि वह नल को चाहती है क्या ?)। तब इस संशय को निवारण करने के लिए) आगे कही जानेवाली 'वाणी' के साथ, उसने अपने मुख-'कमल' का, संयोग कराया (अर्थात् प्रश्न किया) ॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम् ॥६२॥

करेणेति। हे भैमि !, करेण विधुं=चन्द्रं, विधर्तुं=गृहीतुं, वाञ्छा इव

यमर्थम् [illegible] आदरिणी = आदरवती सती आत्थ = ब्रवीषि । 'ब्रुवः पञ्चानाम्' इति ब्रुवो लटि सिपि थलादेशः । ब्रुवश्चाहादेशः । 'आहस्थः' इति हकारस्य थकारः । तमर्थम् । अन्ते भवोऽन्तिमो वर्णः = शूद्रः । 'अन्ताच्चेति वक्तव्यम्' इति इमच् । श्रुतेर्वर्णं = वेदाक्षरम् इव, श्रुतिभ्यां = श्रोत्राभ्यां पातुं = श्रोतुमपीत्यर्थः । नाधिकुर्वे = नाधिकार्यस्मि किं ? = अस्म्येवेत्यर्थः । अतः सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥६२॥

बोलने के लिए, मेरे आग्रह करने पर, आपने जो द्विज-राज को पाणि से ग्रहण करने की वाञ्छा के समान' इस प्रकार वाक्य कहा, उस विषय को श्रुति (कानों) से सादर पान करने (स्पष्ट सुनने) का क्या मैं उस प्रकार अधिकारी नहीं हूँ ?; जैसे अन्तिम वर्ण (शूद्र) श्रुति (वेद) के वर्ण (अक्षर) को सुनने का अधिकारी नहीं होता (अर्थात् श्लेषमयी साहित्यिक भाषा का प्रयोग न करके, सर्वसाधारण की समझ में आने वाला सरलार्थ बताइए) ॥६२॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते यः ।
यत्रान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥६३॥

ननु तमर्थमत्यन्तदुर्लभत्वादुक्तुं जिह्वेमीत्याशङ्क्याह—अर्थाप्यत इति । हे भैमि ! भवत्या किंवा, इयत् = एतावद्यथा तथा अर्थाप्यते । किमर्थम् अयमर्थो द्विजराजपाणिग्रहवदतिदुर्लभत्वेनाख्यायत इत्यर्थः । अर्थशब्दात्तदाचष्टे इत्यर्थे णिच् 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्यः' इत्यापुगागमः । कुतस्तथा नाख्येय इत्यत आह—योऽर्थः एकः पादो यस्यामित्येकपदी, एकपादसञ्चारयोग्यमार्गः । 'वर्तन्येकपदीति च' इत्यमरः । 'कुम्भपदीषु च' इति निपातनात् साधुः । चित्तैकपद्यां = मनोमार्गेऽपि वर्तते । चक्षुराद्यविषयत्वेऽपीत्यपिशब्दार्थः । स कथं दुर्लभ इति भावः । तथा हि, यत्र = यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्धकारः प्रतिबन्धः किल तद् ब्रह्म जिह्मेतरैः = अकुटिलैः, कुशलधीभिरिति यावत् । अवाप्यं = सुप्रापं । अमनोगम्यं ब्रह्मापि कैश्चिद्गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः । अत एवार्थापत्तिरलङ्कारः । कैमुत्येनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरिति वचनात् ॥ ६३ ॥

जो मनोरथ आपके चित्त-पथ पर दौड़ रहा है, उसे आप ('मनस्तु यं नोज्झति' कहकर) क्यों अर्थ (धन) के समान गुप्त रख रही हैं ? जिस (ब्रह्म) के बारे में ऐसा (श्रुति [illegible]) [illegible] है कि 'वह मन के विषय से परे है'—

वह भी तो उद्योगी पुरुषों द्वारा (योगाभ्यास से) सुलभ हो जाता है (तब भला, आपका मनोरथ प्रयत्न करने से क्यों न पूरा होगा ?) ॥ ६३ ॥

ईशाणिमैश्वर्य-विवर्त-मध्ये ! लोकेश-लोकेशय-लोक-मध्ये ।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञ-रसज्ञतोपज्ञ-समज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

अथ मयि मृषावादित्वशङ्कया वक्तुं सङ्कोचस्तच्च न शङ्कितव्यमित्याह— ईशेत्यादिना त्रयेण । [ईशाणिमैश्वर्य-विवर्त-मध्ये !] ईशस्य यदणिमैश्वर्यं, तस्य विवर्त्तो रूपान्तरं मध्यो यस्याः सा तथोक्ते । हे कृशोदरीत्यर्थः । [लोकेश-लोकेशय-लोकमध्ये] लोकेशलोके शेरत इति लोकेशलोकेशयाः ब्रह्मलोकवासिनः । 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्युलुक् । तेषां लोकानां जनानां मध्ये अज्ञं=मूढं, तिर्यञ्च = पक्षिणमपि, मामिति शेषः । [मृषानभिज्ञ-रसज्ञतोपज्ञ-समज्ञं] मृषा अनृतं, तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना, यस्य तस्य भावस्तत्ता, सत्यवादितेत्यर्थः । उपज्ञायत इति उपज्ञा, आद्यानुपज्ञाता । 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्' इत्यमरः । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः । बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्वम् । तथात्वेन ज्ञातं तदुपज्ञं, 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इति नपुंसकत्वं, समं साधारणं, सर्वैर्ज्ञायत इति समज्ञा कीर्तिः । तदुपज्ञं तथात्वेनादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्तिर्येन तं, तथोक्तं मां अञ्च = सत्यवादिनं विद्धीत्यर्थः । अञ्चतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥६४॥

हे महेश के (अणिमा-लघिमा आदि ८ प्रकार के) ऐश्वर्यों में पहली अणिमा के विवर्त के समान सूक्ष्म मध्यभाग वाली (अर्थात् हे पतली कमर वाली) ! लोकेश ब्रह्मा के लोक (ब्रह्माण्ड) में रहने वाले लोगों में यद्यपि मैं केवल मूर्ख पक्षी हूँ; तथापि मेरी—रस को ग्रहण करने वाली—जीभ असत्य भाषण से अनभिज्ञ होने के कारण, मैं (ब्रह्मलोक में सत्यवादियों की श्रेणी में) सर्व-प्रथम उल्लेख होने वाली कीर्ति से संयुक्त हूँ (अर्थात् सम्पूर्ण सत्यवादियों में अग्रणी हूँ)—इसे भली भाँति समझ लीजिए ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः ।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतायमद्धापथान्न संसर्गगुणेन बद्धा ॥ ६५ ॥

मध्य इति । किं च प्रतिवेशिनीनां=प्रावेश्यानां, श्रुतीनां=वेदानां, ब्रह्ममुखस्थानां श्रुतीनां मध्ये वासवती = निवसन्ती, इयं नः=अस्माकं मुखे, सर-

स्वती=वाग् [संसर्गगुणेन] संसर्ग एव गुणः श्लेष्यधर्मः तन्तुश्च तेन बद्धा सती, ताभ्यः=श्रुतिभ्यो ह्रिया इव इत्युत्प्रेक्षा । अद्धापथात् = सत्यमार्गात् न चलति, संसर्गजा दोषगुणा भवन्तीति भावः । 'सत्ये त्वद्धाऽञ्जसाद्वयम्' इत्यमरः ॥

हमारे मुख में (किसी भवन में) रहने वाली, यह सरस्वती (वाणी; कोई महिला) श्रुतियों (वेदों; सतियों) की पड़ोसिन है। (यतः ब्रह्मा के मुख से श्रुतियाँ निकली हैं और ब्रह्मा के रथ में हंस रहते हैं, अतः वे एक गाँव की रहने वाली पड़ोसिन हुईं)। यह—श्रुतियों (वेदों) के संसर्ग के गुण से बँधी रहने के कारण, मानों उन (श्रुतिरूपी पड़ोसिनों) की लज्जा से ही,—अद्धापथ (सत्यमार्ग; सती-धर्म) से स्खलित नहीं होती (झूठ नहीं बोलती; विचलित हो व्यभिचारिणी नहीं होती) ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम् ।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥६६॥

ततः किमित्यत आह–पर्यङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि-द्वीपान्तरस्थेऽपीति भावः । अभिलाषि=साभिलाषं, ते=तव, चित्तं कर्तृ, [पर्यङ्कतापन्न-सरस्वदङ्कां] पर्यङ्कतां वाससक्थिकात्वमापन्नः सरस्वान् सागरोऽङ्कश्चिह्नं यस्यास्तामतिदुर्गमामित्यर्थः । तां लङ्कापुरीमपि, प्रयाति चेत् । तदपि=तद्दुर्गस्थमपि स्वशये=स्वहस्ते, शयालु = स्थितम् अवेहि । पर्यस्तमपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ॥६६॥

तुम्हारा चित्त—समुद्र के अङ्क (गोद) को पर्यङ्क (पलङ्ग) बनाने वाली (अर्थात् समुद्र के बीच में स्थित, अतः दुर्लंध्य)—लङ्कापुरी की भी यदि अभिलाषा करे; किंवा उससे भी अधिक दुर्लभ वस्तु के पाने की इच्छा करे तो (दोनों ही को) अपने हाथ में आया ही समझो ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥६७॥

इतीति । तेन पत्त्ररथेन = पक्षिणा हंसेन, इति = इत्थम् ईरिता = उक्ता, भैमी, ह्रीणा = स्वयमेव स्वाकूतकथनसङ्कोचात् लज्जिता । 'नुदविद' इत्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वम् । हृष्टा = उपायलाभान्मुदिता च सती बभाण । किमिति मदीयं चेतो लङ्कां नायते = नैति किन्तु नलं राजानं कामयत इति श्लेषभङ्ग्या बभाणेत्यर्थः । अन्यत्र कुत्रापि = वस्तुनि च साभिलाषं न ॥६७॥

उस पक्षी के (हंस) के इस प्रकार कहने पर, (नल के सम्बन्ध में कहते ए संकोच के कारण) लज्जित तथा (हंस द्वारा अपनी अभीष्ट पूर्ति के बारे में न लेने से) हर्षित हो, दमयन्ती बोली—(तुमने जो लङ्का और अन्य दुर्लभ तु के बारे में कहा, सो) (चेतो न लंकामयते मदीयं) मेरा चित्त लङ्का को हीं चाहता और न किसी अन्य वस्तु की अभिलाषा करता है। (दूसरा अर्थ— चेतो नलं कामयते मदीयं' = मेरा चित्त नल को चाहता है। तीसरा अर्थ— चेतोऽनलं कामयते मदीयं न' = मेरा चित्त अ-नल 'नल के अतिरिक्त' नहीं चाहता है। चौथा अर्थ—'चेतोऽनलं कामयते मदीयं' = यदि नल नहीं मिले तो मेरा चित्त अनल 'अग्नि' को चाहेगा; अग्नि की लपट में अपने शरीर की आहुति दे दूंगी, पर किसी अन्य पुरुष की अभिलाषा नहीं करूँगी) ॥६७॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्ग-पतङ्ग-शक्रः ॥६८॥

विचिन्त्येति। विस्पष्टमभाषमाणां = श्लेषोक्तिवशात् संदिग्धमेव भाषमाणामित्यर्थः। एनां = दमयन्तीं, सः चक्राङ्गपतङ्गशक्रः = हंसपक्षिश्रेष्ठः, [बाला-जन-शील-शैलं] बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य, शीलं स्वभावमेव शैलं [लज्जा-नदी-मज्जदनङ्ग-नागं] लज्जायामेव नद्यां, मज्जदनङ्गनागो यस्य तं, विचिन्त्य = विचार्य आचष्ट। तस्य लज्जाविजितमन्मथत्वं ज्ञात्वा लज्जाविसर्जनार्थं वाक्यमुवाचेत्यर्थः ॥६८॥

मुग्धा (दमयन्ती रूप अल्हड़) नायिका के शील-स्वभाव रूपी पर्वत पर, लज्जा रूपी नदी में, अनङ्ग-नाग (कामदेव रूपी मत्त गजराज) को स्नान करते हुए, विचार (देख) कर, हंस पक्षियों में इन्द्र के समान वह राजहंस—('श्लेष' एवं 'ध्वनि' द्वारा गूढ वाक्य बोलने वाली; किन्तु) स्पष्टरूप से अपनी अभिलाषा व्यक्त न करने वाली दमयन्ती से—कहने लगा ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति।
श्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थः 'सुधिया मया किम् ॥६९॥

नृपेणेति। श्लेषकवेः = श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्याः श्लिष्टशब्दप्रयोक्त्र्या इत्यर्थः। 'कवि वर्णने' इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः। भवत्याः = तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा, [पाणिग्रहणस्पृहा] पाणिग्रहण पाणिपीडने। 'उपयमौ कर्मणि' इति

विहितायाः षष्ठ्याः कर्मणि च इति समासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठीसमासः । तत्र स्पृहा, इति मम मनः = द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नलं कामयत इति श्लोकद्वयार्थः । **सुधिया** = विदुषा **मया नाश्लेषि** = नाग्राहि किं ?, गृहीत एवेत्यर्थः ॥६६॥

श्लेष शब्द का प्रयोग करने वाली, आप जैसी कवयित्री का—'नृप के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा है' (श्लोक ५६), और 'मेरा चित्त नल को चाहता है' (श्लोक ६७)—इन दोनों श्लोकों का अभिप्राय, मुझ बुद्धि रखने वाले की समझ में क्या नहीं आया ? (अर्थात् आपके तात्पर्य को मैं समझ गया) ॥६६॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ एव ।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥७०॥

तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिकं अज्ञवदुक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस इति । किं तु **त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययम्** = अस्थिरत्वं **संभाव्य** = आशङ्क्य, **तदज्ञः** = तस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञः अनभिज्ञः, **भावी** = भविष्यन् । 'भविष्यति गम्यादयः' इति साधुः । **अस्मि** । त्वच्चित्तनिश्चयपर्यन्तमित्यर्थः । 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' इति भविष्यात्ताया गुणत्वाद्वर्तमानतानुरोधः । नन्वेवमनुरक्तायां मयि कुत इयं शङ्केत्याशङ्क्य स्त्रीणां चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह—**लक्ष्य** इति । **लोलशीले** = चञ्चलस्वभावे, **बालाहृदि** बालायाः हृदि चित्त एव **लक्ष्ये, स्मरोऽपि दरापराद्धेषुः** इषच्च्युतसायकः **स्यात्** । कुशलोऽपि धन्वी चललक्ष्यात् कदाचिदपराध्यत इति भावः । 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्यश्च्युतसायकः' इत्यमरः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥७०॥

तो (अर्थात् आप कहें कि यदि मेरे अभिप्राय को जान ही गये हो तो क्यों मुझे निर्लज्ज बनाकर, उसी बात को मेरे मुँह से कहलवाना चाहते हो तो इसका उत्तर यह है कि) आपके चित्त की अस्थिरता की सम्भावना करके, मैं उस (अभिलाषा) के बारे में अनभिज्ञ बनकर, पूछ रहा हूँ, क्योंकि (बाल्यावस्था के कारण) चञ्चल शील-स्वभाव वाली, मुग्धा बाला के हृदय को लक्ष्य बनाने में, (निशाने वाली वस्तु) हृदय के अस्थिर होने की आशङ्का से, (अचूक निशानेबाज) कामदेव भी कहीं अपना निशाना न चूक जाय । (यदि लक्ष्य स्थिर है, तब तो लक्ष्यभेद सरल है; और यदि लक्ष्य स्थिर नहीं है, हिलता-डुलता रहता है, तब निशाना लगाने में बड़ी कठिनाई होती है और बड़े-बड़े निशानेबाज भी चूक जाते हैं, उसी प्रकार कहीं कामदेव भी न चूक जाय) ॥७०॥

महीमहेन्द्रः खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव ।
प्रयोजनं सांशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥७१॥

महीति । किं च, नैषधः इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्रः, महीमहेन्द्रः=भूदेवेन्द्रः खलु तत् = तस्मात्, स = नलः पृथग्जनेन=प्राकृतजनेन इव मद्विधेन=मादृशा, विदुषा ईदृक् सांशयिकं = सन्देहदुःस्थं अस्थिरं प्रयोजनं प्रति इत्थमेव = मुखाकारेणैव कथं बोधनीयः, अनर्हमित्यर्थः । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्तुः नलस्य कर्मत्वं ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण इति अभिधानाच्च ॥७१॥

वे निषध देश की जनता के आह्लादकारी निर्मल चन्द्रमा के समान ही नहीं हैं, प्रत्युत समस्त भूमण्डल के इन्द्र (एकच्छत्र सम्राट्) हैं, अतः ऐसे व्यक्ति से —सर्वसाधारण (अपढ़) जनता की भाँति, मेरे जैसे (ब्रह्मा के वाहन, उच्च कुलोत्पन्न, शिक्षित, विद्वान्) लोग (आप की कामना उन के सम्बन्ध में है या किसी अन्य पुरुष के, इसका पता नहीं चलता) ऐसे संशय से अ-स्थिर और इस प्रकार के (गुरुतर) प्रयोजन को—किस तरह सूचित कर सकते हैं ? ॥७१॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृति-प्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥७२॥

अथेत्थमेव बोधने को दोषस्तत्राह—पितुरिति । पितुः नियोगेन=आज्ञया निजेच्छया =स्वेच्छया वा, अन्यं =नलादन्यं युवानं यदि वृणीषे = वृणोषि यदि । तदा निषधेश्वरस्य=नलस्य, मयि विषये, त्वदर्थं=तुभ्यं । 'चतुर्थी तदर्थ' इत्यादिना चतुर्थीसमासः । 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या ।' अर्थित्वकृतिः अर्थित्वभजनं, तत्र प्रतीतिर्विश्वासः, [अर्थित्वकृतिप्रतीतिः] तद्वत्तथा, कीदृक् स्यात्=न स्यादित्यर्थः । तस्मादसन्दिग्धं वाच्यमिति भावः ॥७२॥

पिता के आदेश से, अथवा स्वेच्छा से, यदि आप किसी अन्य युवक को वरण कर लेंगी तो आप को पत्नी के रूप में स्वीकार करने के निमित्त, आपकी ओर से उन्हें विश्वास दिलाने वाले मुझपर—निषधराज नल का कैसे विश्वास बना रह जायगा ? (मेरे प्रति उनकी धारणा बदल जायगी और वे मुझे एकदम झूठा समझेंगे) ॥ ७२ ॥

त्वयापि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम् ।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥७३॥

अन्य[illegible], तर्हि [illegible] कारिष्ये प्रतिज्ञाभङ्गपरिहारायेत्याह—**त्वयेति** । हे **उर्वीपतिपुत्रि** != भैमि !, त्वयापि किं वा **विधातुं** = किं कर्तुं **शङ्कितविक्रिये** = सम्भावितविपर्यये, **अस्मिन् विषये** = राजपाणिग्रहणसंघटनकार्ये अहं **अधिक्रिये**=विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थः । करोतेः कर्मणि लट् । किं तु **इतः पृथक्** = अस्मादन्यत् यद्यत् प्रार्थयसे तत्सव **कुर्वे** = करोमीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

आप भी मुझे—स्पष्ट रूप से न कहे हुए, सन्दिग्धपूर्ण (द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषरूप) कार्य को करने के लिए—क्यों अधिकारी बना (प्रेरणा कर) रही हैं ? किन्तु हे राजकुमारी ! इस (विवाहकार्य) के अतिरिक्त जो-जो भी कहेंगी, सो सब करने के लिए तैयार रहूँगा ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।
ऊचे ह्रिया विश्लथितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥७४॥

श्रव इति । **धरित्रीपुरुहूतपुत्री** = भूमीन्द्रसुता भैमी, **श्रवःप्रविष्टा इव**, न तु सम्यक् प्रविष्टाः, **तद्गिरः** = हंसवाचः । [**वैमत्य-धुतेन**] वैमत्येन असम्मत्या धुतेन कम्पितेन, **मूर्ध्ना विधूय** = प्रतिषिध्य **ह्रिया** कर्त्र्या **विश्लथितानुरोधा** = शिथिलितवृत्तिस्त्यक्तलज्जा सती, **पुनरप्यूचे** = उवाच ॥७४॥

कर्णपुट में गयी हुई, हंस की बातों को—असहमत होने के कारण, सिर हिलाने से—मानों बाहर निकाल कर और (चिर सहचारिणी प्रबला) लज्जा के आग्रह को भी शिथिल कर (अर्थात् लज्जा का परित्यागकर), भीम-राजकुमारी दमयन्ती फिर बोली—॥ ७४ ॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥७५॥

मदिति । [**मदन्यदानं**] मम अन्यदानं अन्यस्मै दानं **प्रति** = दानमुद्दिश्य, या **कल्पना** पितुर्नियोगेनेत्यादि श्लोकस्तर्कः । **एषा कल्पना त्वदीये हृदि, वेदस्तावत्** = सत्य एवेत्यर्थः । **निशः** = निशाया **अपि** 'पद्दन्' इत्यादिना निशाया निशादेशः । [**सोमेतरशङ्कां**] सोमाच्चन्द्रादितरकान्तशङ्कां पुरुषान्तरकल्पनामेव, **ओङ्कारं**=प्रणवं, **अस्य** [illegible] **अग्रेसरं**=आद्यं, **कुर्याः** = कुरु । सर्वस्यापि वेदस्य

गवपूर्वकत्वादिति भावः। यथा निशायाः निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीयः, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः। रूपकालङ्कारः ॥ ७५ ॥

नल के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ (मेरे पिता द्वारा) कन्यादान होने के सम्बन्ध में यदि यह ('पितुर्नियोगेन' वाली) धारणा तुम्हारे हृदय में, वेद के समान बद्धमूल जमी हुई है, तो तुम रात्रि का भी चन्द्रमा के अतिरिक्त कोई अन्य पति होने की शङ्का को इस प्रकार स्थान दो, जिस प्रकार वेदमन्त्र के पहले ॐ होता है। (अर्थात् जिस प्रकार वेदमन्त्र के पूर्व ओम् का उच्चारण किया जाता है, उसी प्रकार चन्द्रमा के अतिरिक्त निशा-नायिका के अन्य पति होने की कल्पना —नल के अतिरिक्त मेरे अन्य पति होने की कल्पना के समान—करनी चाहिए) ॥ ७५ ॥

सरोजिनी-मानस-राग-वृत्तेरनर्क-सम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्य-पाणिग्रह-शङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥७६॥

सरोजिनीति । [**सरोजिनी-मानस-राग-वृत्तेः**] सरोजिन्याः पद्मिन्याः, मानसरागवृत्तेर्मनोऽनुरागस्थितेः, अभ्यन्तरारुण्यप्रवृत्तेश्च; **अनर्कसम्पर्कम्** = अर्केतरकान्तसंक्रान्तिम् **अतर्कयित्वा** = अनूहित्वा, **तव**, **इयं** [**मदन्यपाणिग्रह-शङ्किता**] मम अन्यस्य नलेतरस्य, पाणिग्रहं शङ्कत इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता। **महीयः** = महत्तरं **साहसिक्यं** = साहसिकत्वं, **अहो** असम्भावितसम्भावनादाश्चर्यम् ॥ ७६ ॥

कमलिनी के चित्त के अनुराग की वृत्ति की—सूर्य के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ तुमने—तर्कना तो नहीं की; पर, मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी—नल के अतिरिक्त किसी अन्य युवक के साथ पाणिग्रहण होने की—यह शङ्का बनी हुई है। तुम्हारा यह साहस बड़ा गुरुतर है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ! ॥७६॥

साधु त्वयातर्कि तदेकमेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनामुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषा गिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥७७॥

साध्विति । किं च **स्वेन** = स्वेच्छया, **अनलं**=नलादन्यं अग्निं च, संश्रयिष्ये = प्राप्स्यामीति **किल यत् त्वया** अतर्कि ऊहितं, **तदेकमेव साधु अतर्कि** । किं तु, **अमुना**=नलेन **विना**, तदलाभ इत्यर्थः। **स्वात्मनि प्रहर्तुं**=स्वात्मानं हिंसितुम्। 'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः। कर्मणो अधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी'।

सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥' इति वचनात् । अनलं संश्रयिष्ये इत्यनुषङ्गः । नृपतौ=नले विषये, त्वां मृषा गिरं=असत्यवाचं कर्तुं न । अनल एव शरणं, अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः ॥ ७७ ॥

तुमने यह सम्भावना ठीक ही की कि मैं ('निजेच्छया वा०' ७२ वाँ श्लोक) स्वेच्छा से अ-नल (नल के अतिरिक्त अन्य) के साथ विवाह करूँगी ! (अहा हा ! क्या पूछने की बात है ? अर्थात् नल को छोड़कर अन्य के साथ पाणिग्रहण न करूंगी । यदि तुम पूछो कि नल न मिले तो क्या करोगी? इसका उत्तर यह है कि) उन (नल) के बिना (अर्थात् पति रूप से न मिलने पर), अपनी आत्मा पर आघात (अर्थात् आत्महत्या) करने के अभिप्राय से, अनल (अग्नि) को वरण करूँगी; परन्तु राजा नल के सामने तुम्हें असत्यवादी बनाने के निमित्त, कभी भी अ-नल (नल के अतिरिक्त अन्य युवक) को वरण न करूंगी (यह मेरा दृढ़ निश्चय है) ॥७७॥

मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कः स किं तत्फलवाचि मूकः ? ।
अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

मदिति । किञ्च यस्तर्कः=ऊहः, पुनः त्वां मद्विप्रलभ्यं=मया विप्रलम्भनीयम् । 'पोरदुपधात्' इति यत्प्रत्ययः । आह=बोधयतीत्यर्थः । स तर्कः [तत्फलवाचि] तस्य विप्रलम्भस्य, फलवाचि प्रयोजनाभिधाने, मूकः=अशक्तः किं । अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थः । कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चय अत आह—[अशक्यशङ्क-व्यभिचारहेतुः] अशक्या शङ्का यस्य सः अशक्यशङ्कः शङ्कितुमशक्यः, व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणो यस्याः सा वाणी, न वेदा यदि =न प्रमाणं चेत्तर्हि के तु वेदाः सन्तु=न केऽपीत्यर्थः । सम्भावनायां लोट् । वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वं नान्यथेति भावः ॥ ७८ ॥

जो तर्क (जैसे कोई मुँह से बोले उस तरह) तुम्हें बतलाता है कि तुम मेरे द्वारा छले जा रहे हो, वह (तर्क) उस छल के फल के कथन में क्यों गूँगा बन गया है (अर्थात् वह स्पष्ट रूप से क्यों नहीं कह देता कि तुम मेरे द्वारा छले नहीं जा रहे हो । अब यदि पूछो कि तुम्हारी बात कैसे सत्य मान ली जाय, तो इसका उत्तर यह है कि) जिस में असत्यता की सम्भावना करने का समावेश न हो, वह उक्ति यदि वेद (के समान प्रामाणिक) नहीं है, तो फिर वेद किसे कहेंगे?॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम् ।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलः स एव ॥ ७९ ॥

एवं निजेच्छया नलान्यशङ्कां निरस्य पित्राज्ञयापि तां निरस्यति—**अनैषधायेति** । तातः = मम जनकः । 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः । **मामनैषधाय** = नैषधा-न्नलादन्यस्मै एव, **जुहोति** = ददातीति काकुः । तदा **शरीरशेषां** = मृतां तत्रापि **कृशानौ न किं मा** = न तु जीवन्तीं नाग्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः । तदङ्गीकर्त्तव्य-मेवेति भावः । कुतः ? **स** = जनकः **तनूजन्मतनोः** = आत्मजशरीरस्य **ईष्टे** = स्वामी भवतीत्यर्थः । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति शेषे षष्ठी । **तथापि** = शरीरस्य पितृस्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः । **मत्प्राणनाथस्तु नल एव**, प्राणानामतज्जन्यत्वादिति भावः । अतो मय्यविश्वासं मा कुर्वित्यर्थः ॥ ७९ ॥

यदि पिता मुझे नल के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को—('अङ्गादङ्गात्स-म्भवसि०' के अनुसार सन्तति के अङ्ग के स्वामी होने के कारण) स्वेच्छा से दें तो (मेरे आत्महत्या कर लेने पर, प्राणों के चले जाने पर) शरीर मात्र शेष बचे हुए (अर्थात् निष्प्राण शरीर) को अनल में दे दें, यही उचित होगा । पिता तो जन्म देने के कारण, अपनी सन्तान के शरीर के स्वामी होते हैं और (पति तो प्राण-नाथ होते हैं इसलिए) मेरे प्राणों के नाथ तो वे—नल-ही हैं ॥७९॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

फलितमाह—**तदेकेति** । [**तदेकदासीत्वपदात्**] तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्वं तदेव पदमधिकारस्तस्मात्, **उदग्रे** = अधिके, **मदीप्सिते** = पत्नीत्वरूपे विषये, **ते** = तव, **विधित्सुता** = चिकीर्षुतैव **साधु** = साध्वी; अविचारेण मन्म-नोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः । साध्विति सामान्योपक्रमान्नपुंसकत्वम् । 'शक्यं श्वमांसेनापि क्षुन्निवर्तयितुम्' इति भाष्यकारप्रयोगात् । ननु किमत्राभिनिवेशेन गुणवत्तर चेद्युवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह—**अहेलिनेति** । **नलिनी सुधाकरेण** = अमृतदीधितिनापि **अहेलिना** = असूर्येण, **सुधाकरेण** = चन्द्रेण **किं विधत्ते ?** किं तेन तस्या इत्यर्थः । तद्वन्ममापि किं युवान्तरेणेति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥८०॥

उन (नल) के एकमात्र दासीरूप पद से भी उत्तम—मेरा मनोरथ कोई हो तो उसे पूरा करने की तुम्हारी इच्छा है (जैसा कि श्लोक ७२ में तुम कह

चुके हो कि 'इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्०') सो बहुत ठीक है! (अर्थात् एकदम उचित नहीं है; मैं नल की दासी रूप पद से उत्तम किसी की पटरानी नहीं बनना चाहती, इसे तुम अपने पास ही रखे रहो, मुझे नहीं चाहिए); क्योंकि सूर्य (पति) के अतिरिक्त, कमलिनी को, सुधा के 'आकर' (अमृत की खान) चन्द्रमा से क्या प्रयोजन ? ॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।
वित्ते ममैकः सकलत्रिलोकी-सारो निधिः पद्ममुखः स एव ॥ ८१ ॥

तदिति । [तदेकलुब्धे] तस्मिन्नैवैकस्मिन् लुब्धे लोलुपे, मे हृदि, अनर्घ्यं चिन्तामणिमपि, लब्धुं चिन्ता = विचारो नास्ति तथा वित्ते = धनविषयेऽपि मम सकलस्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यश्रेष्ठः पद्ममुखः = पद्माननः एकः स नल एव । त्रैलोक्यसारः पद्ममुखो निधिश्च । नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति । किमुत युवान्तर इति भावः ॥ ८१ ॥

मेरा 'चित्त' एकमात्र उन्हीं का लोभी हो रहा है । उस (चित्त) को अमूल्य रत्न चिन्तामणि प्राप्त करने की भी चिन्ता नहीं है । जिस प्रकार 'वित्त' में पद्म प्रमुख नव निधि ही सकल त्रिलोकी के सारभूत हैं; उसी प्रकार पद्म (कमल) के समान मुखवाले नल रूप निधि सम्पूर्ण त्रैलोक्य में श्रेष्ठ हैं । (नल रूप निधि मिल जाने पर, मुझे चिन्तामणि रत्न की कौन-सी आवश्यकता रह जायगी) ॥८१॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद्ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

श्रुतश्चेति । किं बहुना, स = नलः, श्रुतः = दूतद्विजवन्द्यादिमुखादाकर्णितश्च, मोहात् = भ्रान्तिवशात्, हरित्सु = दिक्षु, दृष्टः = साक्षात्कृतश्च । तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधारं = निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाहं यथा तथा ध्यातः = चिन्तितश्च अथाद्य मम तत्प्राप्तिः = नलप्राप्तिः असुव्ययः = प्राणत्यागो वा, द्वयमेव = द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः । शेषः = कार्यशेषः । स च तव हस्ते आस्ते = त्वदायत्तः तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र तत्पदार्थश्रवण-मनन-निदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिदुःखोच्छेदलक्षणमोक्षो गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिध्वनिरेव अभिप्रायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादिति सङ्क्षेपः ॥ ८२ ॥

नल के बारे में (दूतों, ब्राह्मणों, चारणों आदि की मुँहजबानी) मैंने 'श्रवण' किया है; भ्रान्ति के कारण (उन्मादावस्था में) नल के स्वरूप का 'दर्शन' भी किया है; और बुद्धि के अजस्र धाराप्रवाह में, बिना किसी प्रतिबन्ध के, (उन्मादावस्था में देखे गये) नल का 'ध्यान' (चिन्तन) भी किया है। इसलिए आज उन्हें प्राप्त करूंगी या प्राण-परित्याग करूंगी। ये दोनों तुम्हारे हाथ में हैं (तुम चाहो तो मिलन करा दे सकते हो और न चाहो तो प्राण ले सकते हो)। (चाहे प्रिय-मिलन हो या प्राण-वियोग हो) इनमें से एक तो शेष रह ही जायगा ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम्
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृश का ॥ ८३ ॥

सञ्चीयतामिति। हे हंस ! **आश्रुतपालनोत्थं** = प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहणोत्पन्नं। 'अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातम्' इत्यमरः। [**मत्प्राणविश्राणनजं**] मत्प्राणानां विश्राणनं दानं तज्जञ्च पुण्यं = सुकृतं, **सञ्चीयतां** = संगृह्यतां। हे **आर्य** ! **वृथा विशङ्का** = सन्देहो **निवार्यताम्**। **अये** != अङ्ग ! **भद्रे** = पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये **भृशं का इयं मुद्रा** = औदासीन्यम्। श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥८३॥

प्रतिज्ञा को पूरी करने से उत्पन्न और मुझे प्राण-दान देने से उत्पन्न पुण्य को उपार्जन करो। हे आर्य ! तुम्हारे चित्त में ('पिता के आदेश से या स्वेच्छा से०' श्लोक ७२ में वर्णित) जो व्यर्थ की आशङ्का घुसी है, उसे दूर कर डालो। हे हंस ! अतीव कल्याणकारी (प्रिय-मिलन के) विषय में तुम्हारी यह कौन-सी (मौन) मुद्रा है ? (ऐसे शुभ कार्य में उदासीनता ठीक नहीं) ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय विज्ञ याञ्चां कृत्वाऽपि वाम्यं विविधं विधेये।
यशः पथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वास्तखलोक्तिखेलात् ॥८४॥

अलमिति। हे **प्रिय** ! प्रियङ्कर ! **विज्ञ** ! = विशेषज्ञ !, उभयत्र 'इगुपध' इत्यादिना कप्रत्ययः। **याञ्चां** = प्रार्थनां, **विलङ्घ्य**, **अलं** = याञ्चाभङ्गो न कार्य इत्यर्थः। **विधेये** = विनीतजने **विविधं** वाम्यं = वक्रतां **कृत्वापि अलं** = तच्च न कार्यमित्यर्थः। [**आश्रवतापदोत्थात्**] आश्रवो यथोक्तकारी। 'वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः। तस्य भावस्तत्ता। सैव पदं पदक्षेपः, तदुत्थात्। [**अस्तखलोक्तिखेलात्**] अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो येन तस्मात्, **यशः पथात्**, **स्खलित्वा** = चलित्वा **खलु** = न स्खलितव्यमित्यर्थः। अन्यथा यशो-हानिः

स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः । 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति उभयत्रापि क्त्वाप्रत्यय इह 'न पादादौ खल्वादयः' इति निषेधस्योद्वेजकत्वाभिप्रायत्वान्नञर्थस्य खलुशब्दस्यानुद्वेजकत्वान्नञ् देवपादादौ प्रयोगो न दूष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥ ८४ ॥

हे प्रिय ! हे विशेषज्ञ ! (अथवा हे प्रियतम को विशेष रूप से जानने वाले हंस !) मेरी प्रार्थना को विफल मत बनाओ । जो करना है, उसके सम्बन्ध में तरह-तरह के अ-यत्न आदि अड़चन न पैदा करो । आश्रवता (कही हुई प्रतिज्ञा को पूरी करने वाले) के उच्च पद से लड़खड़ा कर नीचे मत गिरो । जिस कार्य से निन्दकों को मिथ्या उक्ति कहने में विनोद हो उससे दूर रहो (अर्थात् जिस विषय में दुर्जन भी निन्दा न करें, उससे पथभ्रष्ट न होओ) तथा कीर्ति रूप मार्ग से विचलित मत होओ ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।
मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मः कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतः ॥ ८५ ॥

स्वेति । **ईदृशबद्धमुष्टेः** = ईदृक्कष्टलुब्धस्य, तव [**आर्तमुदे**] आर्तानां मुदे प्रीत्यै, **स्वजीवं ददद्भ्यः** = स्वप्राणव्ययेन परत्राणं कुर्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः । 'जीवं जीमूतवाहनः' इति प्रसिद्धम् । **त्रपा न** इति काकुः । त्रपाया मनःप्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । **यत्** = यस्मात् **मदीयानेवासून्** = प्राणान् **मह्यम् अदित्सोः** तव, [**कीर्तिधौतः**] कीर्त्या धौतः शुद्धः, **धर्मः करात्** = हस्ताद् **भ्रश्यति** । न चैतत्तवार्हमिति भावः ॥ ८५ ॥

मेरे ही प्राण (प्राण-नाथ नल) को मुझे न प्रदान करने की इच्छा से, तुम (व्यय हो जाने के भय से, मुट्ठी बाँध कर, धन सञ्चय करने वाले अर्थात्) नितान्त कृपण बनने पीडित व्यक्तियों की प्रसन्नता के निमित्त, अपना जीवन प्रदान करने वाले (दधीचि, शिवि, जीमूतवाहन आदि) का विचार कर भी—तुम्हें लज्जा नहीं आ रही है ? इसलिए तुम्हारे हाथ से, (धन-दान की) कीर्ति से धवल हुआ धर्म (परोपकार करने का पुण्य) गिरा जा रहा है ॥ ८५ ॥

दत्त्वात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।
विधेहि तन्मां त्वदृणैकशेषमुत्तीर्णदारिद्र्य-समुद्र-मग्नाम् ॥८६॥

दत्त्वेति । किं च, **जीवदे** = प्राणदे, **त्वयि** विषये, **आत्मजीवं** = मत्प्राणं,

दत्त्वापि, शुध्यामि = आनृण्यं गमिष्यामीत्यर्थः । किं तु [जीवाधिकदे] जीवाधिकः प्रियः तद्दे त्वयि केन शुध्यामि, न केनापि तत्तुल्यदेय-वस्त्वभावादित्यर्थः । सम्प्रति प्राणैः समं तु न किञ्चिदस्तीति भावः । तत् = तस्मादभावादेव मां त्वदृणेषु विषये अशोद्धुं = अनृणग्रस्तां भवितुमेव । [असमुद्र-दारिद्र्य-समुद्र-मग्नाम्] असमुद्रे अपरिमिते, दारिद्र्यं त्वद्देयवस्त्वभावरूपं, तस्मिन्नेव समुद्रे, मग्नां विधेहि । नलसङ्घट्टनेन मामृणग्रस्तां कुर्वित्यर्थः । अशोद्धुं, मग्नामिति मग्नत्वानुवादेन अशुद्धिर्विधीयते । दरिद्राणामृणमुक्तिर्नास्तीति भावः ॥ ८६ ॥

जीवन (प्राण) दान देने वाले तुम्हें, अपना जीवन देकर, मैं ऋण चुका दूंगी (अर्थात् अपनी आत्मा को जीवन पर्यन्त, तुम्हें दान स्वरूप में देकर, मैं उऋण हो जाऊँगी); किन्तु यदि जीवन से भी अधिक बढ़कर (जीवन-धन नल को) दोगे, तब भला मैं कैसे ऋण चुका सकूंगी ? (क्योंकि एक नारी के लिए इस संसार में प्राणाधिक प्रिय पति से भी बढ़कर, कोई दूसरा अमूल्य पदार्थ होता ही नहीं, जिसके बदले में तत्तुल्य कोई पदार्थ देकर, बदला चुकाया जा सके)। अतः मुझे (जीवन-धन—नल-दान देकर) अपना ऋण चुकाने के लिए, ऐसी बना दो कि मैं दरिद्रता के असीम सागर में (सर्वदा के लिए) डूबी (अर्थात् चिरकृतज्ञ बनी) रहूँ ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यं न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम् ।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥८७॥

जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥८७॥

जीवेशदातः = प्राणेश्वरद ! **मज्जीवितमेव पण्यं** = क्रेयं वस्तु **क्रीणीष्व** = जीवेशरूपमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः । **अन्यत्** = एतन्मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं **नास्ति चेत् तत्** = तर्हि **पुण्यं**=सुकृतमस्तु अपि । किंचिद्यदि **ते**=तुभ्यं **दातुं न प्रभवामि** = न शक्नोमि **तावत्** = तर्हि **यशः** = कीर्तिं **गातुं प्रभवामि** । ख्यातिसुकृतार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः ॥८७॥

मेरे जीवनरूप पण्य (बिक्री के सौदे) को (प्रियतम-दानरूपी विनिमय से) खरीद लो । इससे यदि कोई लौकिक फल न हो (प्रत्यक्षरूप से देखने में न आवे) तो (कम से कम पारलौकिक) पुण्य तो होगा ही । हे प्राणनाथ-प्रदान-कर्ता ! यद्यपि मैं तुम्हें और कुछ (प्राणनाथ-तुल्य मूल्य हाथों से) देने में समर्थ न हो सकूँ तथापि (मौखिक रूप से) तुम्हारी कीर्ति तो बखान करती रहूँगी ॥८७॥

वराटिकोपक्रिययापि लभ्यान्नेभ्याः कृतज्ञाननथवाद्रियन्ते ।
प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥८८॥

अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकारं कुर्वीत्याह—वराटिकेति । अथवा वराटिकोपक्रियया=कपर्दिकादानेनापि, लभ्यान् = सुलभान् कृतज्ञान् = तावदेव बहुमन्यमानान् उपकारज्ञान्, इभ्याः = धनिकाः । 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी' इत्यमरः । नाद्रियन्ते = धनलोभान्नोपकुर्वन्तीत्यर्थः । सन्तः=विवेकिनस्तु स्वम् = आत्मानं निपुणं भणन्तः = व्यवहरन्तः सन्तः । एते वयं त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थः । तानेव = कृतज्ञान् प्राणैरेव पणैः = मूल्यैः, क्रीणन्ति = आत्मसात् कुर्वन्ति; किमुत धनैरित्यर्थः । अतस्त्वयापि सता कृतज्ञाहमुपकर्तव्येति भावः । हन्त = हर्षे ॥ ८८ ॥

अथवा—एक कौड़ी के उपकार से भी, सन्तुष्ट हो, कृतज्ञ बनने वाले का धनी लोग आदर नहीं करते (अर्थात् जो केवल एक कौड़ी पा जाने पर भी, अपने दाता का चिर-कृतज्ञ बनकर, उसकी जयजयकार मनाता है; उस याचक को, पैसे के लोभी धनी, एक फूटी कौड़ी न देकर, धुत्कार बताते हैं); पर अपने को समाज-सेवी कहने वाले सद्व्यक्ति तो प्राण-पण से (अर्थात् अपने प्राणरूपी मूल्य देकर) भी उन कृतज्ञ हुए जनों को खरीद लेते हैं (अर्थात् अपने वश में कर लेते हैं) । यह बड़े हर्ष (सन्तोष) की बात है (और सज्जन तथा दुर्जन में इतनी ही विभिन्नता है) ॥ ८८ ॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियः प्रसेदे ।
न हीतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

सेति । किञ्च, स भूभृत्=नलः, अष्टावपि लोकपालाः=तदात्मक इत्यर्थः । 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति स्मरणात् । अत एव तदेकाग्रधियः = नलैकतानबुद्धेः । मे = मम तैः = लोकपालैः प्रसेदे = प्रसन्नम् । भावे लिट् । देवता ध्यायतः प्रसीदन्तीति भावः । कुतः ? इतरस्मात्=प्रसादादन्यथेत्यर्थः । स्वयं = स्वयमेव, आगत्य, मम तदाप्तिप्रतिभूः = नलप्राप्तिलग्नकः अभूः इति यत्, तन्न घटते हि । तत्प्रसादाभावे कुतो ममेदं श्रेय इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

वे राजा नल (इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण आदि) आठों लोकपालों के अंशस्वरूप हैं । अतः उन (नल) में एकाग्रचित्ता होने के कारण वे (आठों लोक-

ाल, यह समझकर कि दमयन्ती मेरा ध्यान करती है) मेरे ऊपर प्रसन्न हो गये हैं; क्योंकि (यदि ऐसी बात न होती तो) तुम स्वयं आकर, नल के पाने के बारे में जमानतदार न बनते और यह (आठो लोकपालों की प्रसन्नता के बिना) किसी अन्य कारण से सम्भव नहीं था ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवार्जितस्य भूत्वापि मूलं मयि वीरणस्य।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

अकाण्डेति। हे हंस !, विः = पक्षी। 'विविष्किरपतत्रिणः' इत्यमरः। 'रोरि' इति रेफलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' इति दीर्घः। भवान् अकाण्डम् = अनवसर एव। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। आत्मभुवा = कामेन, मयि विषये अर्जितस्य = कृतस्य रणस्य = गाढप्रहारलक्षणस्य, मूलं = हंसानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वापि; अन्यत्र, काण्डो दण्डः, तद्वर्जितमकाण्डं यथा तथा। आत्मभुवा = ब्रह्मणा, र्जितस्य सृष्टस्य, वीरणस्य = तृणविशेषस्य, मूलं = मूलावयवो भूत्वा। अत एव नलदत्वं = नैषधदातृत्वं, अन्यत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः। एत्य, मे हृदः। रहः चन्दन-लेपकृत्यं शैत्योत्पादनं न कर्ता = करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिति भावः। 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु'। 'स्याद्वीरणं वीरतरुर्मूलेस्योशीरमस्त्रियां। अभयं नलदं सेव्यम्' इति चामरः। वीरणस्येति शब्दश्लेषः। अन्यत्रार्थश्लेषः। तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्यो-शीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन चन्दनकृत्यलक्षणप्रकृतकार्योपयोगात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बो-त्थापित इति सङ्करः ॥९०॥

असमय में ही (इस कुमारावस्था में ही) आत्म-भू कामदेव के द्वारा, मुझ में ('रणस्य') गाढ प्रहार, कराने के कारण हो (अर्थात् कामवासना के बारे में इस प्रकार बातचीत करके, कामोद्दीपन कराने के कारण हुए)। ('विः') पक्षी होते हुए भी, तुम (नल-द) मेरे प्रियतम नल के प्रदानकर्ता बनकर, क्या मेरे (काम-सन्तप्त) हृदय पर (शीतल) चन्दन के लेप का कार्य नहीं करोगे ?

(दूसरा अर्थ—) आत्मभू ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न की गयी, तना रहित (वीरण) गाँडर घास की जड़ के रूप में होकर, तुम मेरे लिए (नलद) खस बन कर कामसन्तप्त हृदय पर, चन्दनात्मक अङ्गराग का लेप न करोगे क्या ? ॥९०॥

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः ॥९१॥

अलमिति। हे हंस! विलम्ब्य अलं=न विलम्बितव्यमित्यर्थः। 'अलं खल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशः। त्वरितुं वेला हि=त्वराकालः खल्वयमित्यर्थः। 'कालसमयवेलासु तुमुन्।' कुतः? स्थैर्यसहे=विलम्बसहे कार्ये, विचारः=विमर्शः किल=इति प्रसिद्धौ, अन्यथा विपत्स्यत इति भावः। तथा हि तीक्ष्णा=शीघ्रग्राहिणी प्रतिभा=प्रज्ञा गुरूपदेशमिव आर्त्तिः=आधिः जातु=कदापि कालं न प्रतीक्षते =कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः। उपमार्थान्तरन्यासयोः संसृष्टिः ॥९१॥

अब विलम्ब मत करो, क्योंकि यह समय शीघ्रता करने का है। जो कार्य विलम्ब सहन कर सके उस में ही (शुभ तिथि-नक्षत्र-वार-योगादि का) विचार किया जाता है। (देखो), जिस प्रकार (शिष्य की) कुशाग्र बुद्धि, आचार्य की शिक्षा की, प्रतीक्षा नहीं करती, वैसे ही दारुण (काम-) पीडा भी (उपयुक्त) समय की प्रतीक्षा नहीं करती ॥९१॥

अभ्यर्थनीयः स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम्।
प्रियास्य-दाक्षिण्य-बलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥९२॥

अथानन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादि श्लोकपञ्चकेन। गतेन=इतो यातेन, त्वया स राजा=नलः शुद्धान्तगतः=अन्तःपुरस्थः, मदर्थं=मत्प्रयोजनं, नाभ्यर्थनीयः=न वाच्यः। दुहादित्वाद्द्विकर्मकत्वम्। अप्रधाने दुहादीनामिति राज्ञोऽभिहितकर्मत्वं। कुतः? हि=यस्मात् तदा=तस्मिन् काले, [प्रियास्य-दाक्षिण्यबलात्कृतः] प्रियाणामास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः। तेन बलात्कृतो बलात्प्रतिवर्त्तितः, अन्यवधूनिषेधः उदयेत्=उत्पद्येत ॥ ९२ ॥

तुम यहाँ से जाकर, उन राजा नल से (परिणय-) प्रार्थना जब वे रनिवास की रानियों के साथ बैठे हों, तब मत करना; क्योंकि सम्भव है कि उस समय, उन प्रेयसी रानियों के मुख की उदारता (मुख के अनुरोध) के कारण, उनके चित्त में यह भावना उत्पन्न हो जाय (कि अमुक रानी से या इन सभी रानियों से मेरी कामवासना [illegible] है) उससे अन्य स्त्री के साथ परिणय करने को मना कर दें ॥९२॥

शुद्धान्त-सम्भोग-नितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥९३॥

शुद्धान्तेति । किञ्च, [शुद्धान्त-सम्भोग-नितान्ततृप्ते] शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन, नितान्ततृप्ते अत्यन्तसन्तुष्टे, नैषधे = नलविषये इदं कार्यं, न निगाद्यं = न निगदितव्यं । 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमद' इत्यादिना सोपसर्गाद्यतो निषेधात् । तथा हि–अपां तृप्ताय = अद्भिस्तृप्तायेत्यर्थः । 'पूरणगुण' इत्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स्वादुः = मधुरा सुगन्धिः = कर्पूरादि वासनया शोभनगन्धा । अत्र कवीनां निरंकुशत्वाद्गन्धस्येत्वे तदेकांतत्वनियमानादरः । तुषारा = शीतला वारिधारा, न स्वदते = न रोचते हि । दृष्टान्तालंकारः ॥९३॥

जब राजा नल अपनी रनिवास की रानियों के साथ सम्भोग करके, पूर्ण सन्तुष्ट हो चुके हों तब भी इस (परिणय-प्रार्थना) कार्य को मत कहना, क्योंकि साधारण जल से सन्तुष्ट हुए व्यक्ति को स्वादिष्ट, सुगन्धित तथा शीतल जल की धारा भी अच्छी नहीं लगती ॥ ९३ ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥९४॥

विज्ञापनीया इति । हे हंसकुलावतंस !, नैषधस्य = नलस्य, हृदि = हृदये, क्रुधा = क्रोधेन, कदुष्णे = ईषदुष्णे सति । 'कवं चोष्णे' इति चकारात्कोः कदादेशः । मह्यमिमाः मदर्थाः । 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या ।' गिरः = वाचो न विज्ञापनीयाः = न विधेयाः, न विज्ञाप्या इत्यर्थः । तथाहि, पित्तेन = पित्तदोषेण दूने = दूषिते, रसने=रसनेन्द्रिये, सिता = शर्कराऽपि तिक्तायते = तिक्तीभवति । लोहितादित्वात् क्यष् । 'वा क्यषः' इति आत्मनेपदम् । अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९४ ॥

हे हंस-वंश के अलङ्कारस्वरूप ! जब नल का हृदय क्रोध के कारण कुछ-कुछ गरमा गया हो तो तुम मेरे बारे में प्रसङ्ग मत छेड़ना; क्योंकि पित्त से दूषित हुई जीभ पर चीनी भी कड़वी लगती है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते ।
तदाऽर्थितस्याऽनवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥९५॥

धरेति । तुर त्वरितं, सहयत्यभिभवत्यरीनिति तुराषाडिन्द्रः, महतेश्चौरादिकत्वात् क्विप् । 'नहिवृति' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः, प्रकृतिग्रहणे ण्यन्तस्यापि ग्रहणात् । मुग्धबोधस्तु तुराशब्दं टाबन्तमाह । तस्मिन् धरातुरासाहि=भूदेवेन्द्रे नले, अजादिषु असाड्रूपत्वात् 'सहेः साडः सः' इति षत्वं नास्ति । कार्यान्तरचुम्बिचित्ते= व्यासक्तचित्ते मदर्थयाच्ञा = मत्प्रयोजनप्रार्थना न कार्या । तथाहि, तदा = व्यासङ्गकाले अर्थितस्य = प्रार्थितार्थस्य [अनवबोधनिद्रा] अनवबोध अबोधः, स एव निद्रा सा, अवज्ञाचरणस्य = अनादरकरणस्य मुद्रां = अभिज्ञानं बिभर्त्ति = अनादरप्रतीतिं करोतीत्यर्थः । तच्चातिकष्टमिति भावः ॥९५॥

धरा (पृथ्वी) तल के इन्द्र राजा नल का चित्त जब किसी दूसरे कार्य में लगा हो तब भी मेरे लिए प्रार्थना मत करना; क्योंकि ऐसे समय प्रार्थना करने पर, अ-श्रवण रूप निद्रा मानों अनादर करने (अनवधानता) के चिह्न धारण करती है ॥९५॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयास्मिन् समयं समीक्ष्य ।
आत्यन्तिकासिद्धि-विलम्बसिध्योः कार्यस्य कार्यस्य शुभा विभाति ॥९६॥

विज्ञेनेति । **तस्मात्** = कारणाद् **विज्ञेन** = विवेकिना, **त्वया समयं समीक्ष्य, इदं** = कार्यम् **अस्मिन् नरेन्द्रे** = नले विषये विज्ञाप्यम् । नन्वेवं कार्यविलम्बः स्यादित्याशङ्क्याह—**आत्यन्तिकेति** । हे हंस !, **कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धि-विलम्बिसिद्ध्योर्मध्ये, आर्यस्य** = विदुषस्ते, **का** = कतरा **शुभा** = समीचीना **विभाति** = प्रतिभाति । अनवसरविज्ञापने कार्यविघाताद्वरं विलम्बनेनापि कार्यसाधनमिति भावः ॥९६॥

तुम (अवसर-अनवसर के) ज्ञाता हो; अतः समय (अनुकूल अवसर) देखकर, उन नरपति नल से मेरी प्रार्थना निवेदन कर देना । (अनवसर कहने से) कार्य का एकदम पूरा न होना और (अवसर देखकर कहने से) कार्य का विलम्ब से सिद्ध होना—इन दोनों में आर्य (तुम) को कौनसी भली जँचती है ? ॥९६॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा सानौचिती चेतसि नश्चकास्तु ।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥९७॥

इतीति । इति = [illegible] [illegible], **अलोपि**=त्यक्तेति यत्, सा विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । **अनौचिती** = अनौचित्यं गतमेतत् **नः** = अस्माकं

शृण्वतां चेतसि चकास्तु । किं तु [तद्दोषतायां] तस्य लज्जात्यागस्य अदोषतायां, स्मरः साक्षी = प्रमाणं, यः = स्मरः तां = भैमीम्, उन्माद्य = उन्मादावस्थां प्राप्य, तत्तत् = अनुचितं वचनम् अवीवदत् = वादयतिस्म । वदतेर्णौ चङि 'गति-बुद्धि' इत्यादिना वदेरणि कर्तुः कर्मत्वम् । प्रकृतिस्थस्यायं दोषो न कामोपहतचेतस इति भावः ॥६७॥

इस प्रकार (प्रगल्भा नायिका के समान निर्लज्ज हो) कहने वाली दमयन्ती का साथ जो लज्जा ने छोड़ दिया—वह (लज्जात्याग लक्षण युक्त) अनौचित्य तो हमारे (जैसे धृष्ट कवियों आदि के) चित्त में विराजमान हुआ । पर, कामदेव तो —उस दमयन्ती की लज्जा परित्याग रूप निर्दोषता का—साक्षी (साक्षात् अपनी आँखों से देखने वाला) हुआ; जिस (काम) ने उस (दमयन्ती) को उन्मत्त (काम-विकल) करके, उसके मुँह से वैसा वैसा कहलवाया ॥६७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते ।
पूर्वः स्मरस्पर्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥९८॥

ननु कामो वा किमर्थमेवं कारयतीत्याशङ्क्य, तस्यायं निसर्गो यदुन्मत्तेन क्रीडतीति सदृष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हरः स्मरश्च द्वावपि, उन्मत्तमासाद्य नूनं असीमां = दुरन्तां मुदम् उद्वहेते = दधतुः । वहे स्वरितेत्वादात्मनेपदं । किन्तु, तत्र निर्देशक्रमात् । पूर्वः = हरः स्मरस्पर्धितया = स्मरद्वेषितया, प्रसूनं = धुत्तूरकुसुमं, तस्यायुधतयेति भावः । अन्यस्तु द्वितीयः = स्मरस्तु विरहाधिदूनं = विरहव्यथादुस्थमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थः । अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थः । 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूर-मुचुकुन्दयोः' इति विश्वः । उभयोरभेदाध्यवसात् समानधर्मत्वविशेषणमानश्लेषात् प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च उभयश्लेषः । तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥६८॥

कामारि महादेव जी और शङ्करारि कामदेव—ये दोनों ही 'उन्मत्त' को पाकर यह निश्चित है कि असीम आनन्द को प्राप्त होते हैं । पूर्व (अर्थात् शिवजी) को (अपने शत्रु पुष्पायुध के अस्त्र) पुष्प (धतूरे के फूल) रूप उन्मत्त पदार्थ को पाकर, असीम हर्ष होता है; क्योंकि उन्हें अपने शत्रु कामदेव के प्रति स्पर्धा है । दूसरे (अर्थात् कामदेव) को विरह-आधि (वियोगजन्य मानसिक क्लेश) से सन्तप्त उन्मत्त (उन्मादावस्था में निमग्न नायिका) को पाकर, परम प्रमोद

होता है; क्योंकि उसे अपने शत्रु शिव जी के प्रति स्पर्द्धा है। (इससे वह समझता है कि मैंने शिवजी के गण उन्मत्त नामक भैरव को पकड़ लिया है) ॥९८॥

तथाभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय तां नैषधबद्धरागाम्।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥९९॥

तथेति। अथ = अनन्तरं, तथा अभिधात्रीं = वक्त्रीं तां राजपुत्रीं = भैमीं [नैषधबद्धरागां] नैषधे नले, बद्धरागां निर्णीय। तेन विहायसा = विहगेन विहस्य भूयः = पुनः [चञ्चूपुटमौनमुद्रा] चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्वम्, अमोचि = अवादीदित्यर्थः ॥ ९९ ॥

तदनन्तर पूर्वोक्त प्रकार से बोलनेवाली, राजकुमारी दमयन्ती को, निषधाधिपति नल के प्रति बद्धानुरागवाली (अनुरक्त) जानकर, वह हंस पहले तो हँस पड़ा और फिर अपने चञ्चुपुट पर लगी हुई मौन रूपी मुहर का परित्याग किया (अर्थात् कहने लगा) ॥ ९९ ॥

इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥१००॥

इदमिति। हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इदं = त्वदुक्तं, तत्त्वं यदि = सत्यं यदि, तत् = तर्हि, अस्मिन् = विषये स्वविधेयं = मत्कृत्यं न पश्यामि। किन्तु, त्वां नृपं च उच्चकैः = अत्यन्तं तापयता पञ्चेषुणैव इयं योजना = युवयोः सङ्घटना, अजनि = जाता। जनेः कर्मणि चिणो लुक् ॥१००॥

हे नरेन्द्रकुमारी ! यदि यह बात (जो आपने कही है) वस्तुतः सत्य है तो इस (आपकी प्रार्थना-पूर्ति) के सम्बन्ध में, मुझे अपनी ओर से, कुछ करना नहीं दीख पड़ता; क्योंकि आपको तथा नल को अतिशय सन्ताप देकर, पञ्च-बाण कामदेव ने ही यह योजना पूरी कर दी है ॥१००॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासिव्रतिनां तपोभिः।
त्वामद्य लब्ध्वामृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥१०१॥

त्वदिति। किन्तु, त्वद्बद्धबुद्धेः = त्वदायत्तचित्तस्य, त्वामेव ध्यायत इत्यर्थः। अत एव तस्य = नलस्य, उपवासिव्रतिनां = त्वदासङ्गाद्विषयान्तरव्यावृत्तानां, तपोभिः = उक्तोपवासव्रतैः [illegible] मत्प्रमुखेन लब्धप्रायां निश्चित्य, साक्षात्कृत्येति च गम्यते। अत एव [अमृततृप्तिभाजां] अमृतेन या तृप्ति-

तद्राजां, बहिरिन्द्रियाणां [स्व देवभूय] स्वकीय, देवभूय देवत्वमिन्द्रियत्वं सुरत्वञ्च। 'देवः सुरे राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रियम्'इति विश्वः। चरितार्थं = सफलम् अस्तु। अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्वं स्यादिति भावः। अर्थान्तरप्रतीतेर्ध्व-निरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥१०१॥

आपमें मन लगानेवाले (अर्थात् आपकी अनवरत चिन्ता करने वाले) उन नल की, उपवासरूप व्रत (नियम) करनेवाली वाह्य इन्द्रियाँ—तपस्या द्वारा आज आपको पाकर, अमृत के भोजन से तृप्त हो—अपने देवत्व को सार्थक करेंगी।

अर्थात्—नल का मन आठो पहर आपमें लगा रहता है, इससे उनकी आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा, इन्द्रियाँ, अपने-अपने विषयों को ग्रहण नहीं करतीं अर्थात् वे देखने, सुनने, सूँघने, पाने, स्पर्श करने, चखने से विरत रहती हैं। इस प्रकार मानों वे व्रतोपवास करती हैं। अब आज उपर्युक्त तपस्या के कारण आपको पाकर, वे देव बन जायंगी। अर्थात् आँख आपकी रूपमाधुरी सुधा का, कान आपके वाक्यामृत का, नाक आपकी अङ्ग-सौरभसुधा का, त्वचा आपके अङ्गस्पर्शरूप अमृत का और जिह्वा आपके अधरामृत का पान करके देवत्व में परिणत हो जायंगी।

जिस प्रकार परमात्मा के स्वरूप का निरन्तर ध्यान करनेवाले सामान्य मानव—व्रतोपवासादि तपस्या से अपने इन्द्रियों को सुखाकर, अन्त में ब्रह्म का साक्षात्कार करके, अमृतपद को प्राप्त करके, देवता बन जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य आदि देवताधिष्ठान मात्र से, देवस्वरूप नल की आँख आदि इन्द्रियाँ—उपर्युक्त रूप से उपवास-तप से, आपको पाकर—देव बन जायंगी ॥१०१॥

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं सास्य न ताप्यतेऽपि।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥१०२॥

यदुक्तं नृपं पञ्चेषुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति। आवयोः = नलस्य मम चेत्यर्थः। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्'इति सर्वग्रहणादत्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येक-शेषः। मूर्तिः = तनुः तुल्या = तुल्यरूपाऽभूत्। तत्र मदीया सा = मूर्तिः परं = निःशेषं दग्धा = भस्मीकृता। अस्य = मूर्तिस्तनुर्न ताप्यते = तापम् अपि न प्राप्यते इति = हेतोः अभ्यसूयन् = ईर्ष्यन् ... [illegible] अपेक्षा। अतनुः =

अनङ्गस्त्वद्विरहात् = त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः । तस्य = नलस्य देहतापं विधत्ते तस्मात् सिद्धिपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भावः ॥१०२॥

(कामदेव सोचता है कि) 'पहले मेरा और नल का शरीर (सुन्दरता में एक-) समान था; परन्तु मेरा शरीर तो (शिवजी द्वारा) भस्म कर दिया गया और इन नल के शरीर (अङ्ग-लावण्य) को भलीभाँति ताप (आँच) भी न आयी'—सम्भवतः इसी ईर्ष्या के कारण (मानों) अनङ्ग कामदेव--आपके विरह (रूप अग्नि) में नल के शरीर को तपा रहा है ॥१०२॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।
चक्षुर्जलैरार्जितमात्मचक्षूरागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥१०३॥

अथास्य दशावस्था वर्णयन् चक्षुःप्रीतिं तावत् श्लोकद्वयेनाह—लिपिमित्यादि । हे भैमि ! स नृपो भित्तिविभूषणं = कुड्यालङ्कारभूतां लिपिं = चित्रमयीं त्वां, दृशा [आदरनिर्निमेषः] आदरेणास्थया, निर्निमेषं पिबन् चक्षुर्जलैः = अश्रुभिरर्जितं त्वयानु = त्वया वा रचितम् [आत्मचक्षूरागं] आत्मचक्षुषो रागं आरुण्यं अनुरागञ्च धत्ते । अत्रोभयकारणसम्भवादुभयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेषमहिम्नैकत्राभिधानात् कारणविशेषः सन्देहः ॥१०३॥

[दश प्रकार की कामोन्माद दशा में पहली चक्षुःप्रीति का वर्णन---] भीत पर लिखे हुए आपके चित्र को, आदरपूर्वक निर्निमेष दृष्टि से पान करते हुए, नल की आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती है, जिस कारण उन्हें चक्षुराग हो जाता है [अर्थात् उनकी आँखें लाल-लाल हो जाती हैं] इससे अनुमान होता है कि सम्भवतः वह चक्षुराग (नयनप्रीति) आपके कारण उन्हें मिला है [एकटक नज़र से देखने के कारण नहीं] ॥१०३॥

पातुर्दृशालेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयास्ति ।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः ॥१०४॥

इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—पातुरिति । अस्तनिमीलया=निर्निमेषया दृशा आलेख्यमयीं = चित्रगतां त्वां, आदरात् पातुः=द्रष्टुरित्यर्थः । अत एव 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् त्वामिति द्वितीया । नेत्रवृत्तेः, प्रीतेः = चक्षुप्रीतेः, निमेषस्य च्छिदयाच्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेषः। भिदादित्वादङ् प्रत्ययः।

अश्रुणि विषये इदम् = अश्रु । मम इति = मत्कृतमेवेति विवादः = कलहो
अस्ति = भवतीत्यर्थः । अतिगाढा चक्षुःप्रीतिरिति भावः ॥१०४॥

आदरपूर्वक निमेषहीन दृष्टि से, दीवाल में लिखी हुई आपकी तस्वीर का पान करते समय, राजा की आँखों से आँसू टपकने लगते हैं। तब राजा की नेत्रवृत्ति प्रीति का—निमेषहीनता के साथ—'ये मेरे कारण निकले हैं' इस प्रकार आँसू के कारण ही, कलह छिड़ जाता है [चक्षुराग से तथा एकटक दृष्टि से देखने पर, आँखों से आँसू टपकने लगते हैं। इस पर चक्षुप्रीति कहती है कि 'ये आँसू मेरे कारण निकले हैं' और निर्निमेष दृष्टि कहती है कि 'आँसू निकलने का कारण तो मैं हूँ।' बस, दोनों में विवाद मच जाता है] ॥१०४॥

त्वं हृद्गता भैमि बहिर्गतापि प्राणायिता नासिकयास्य गत्या।
न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥१०५॥

अथ मनःसङ्गमाह—त्वमिति। हे **भैमि** ! **त्वं बहिर्गतापि हृद्गता** = अन्तर्गता। अपि विरोधे। तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। **कया गत्या**=केन प्रकारेण **अस्य** = नलस्य **प्राणायिता**=प्राणवदाचरिता प्राणसमा, उपमानादाचारे कर्तुः क्यङ् प्रत्ययः। **नासि** = अस्त्येवेत्यर्थः। यतः प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण, आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वास-निश्वासरूपेण, बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। अत एव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा। पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा। किन्तु तत्र= प्राणायितत्वे **चित्रम्** = आश्चर्यरसः, **चित्तं नाक्रामति** = न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः। कुतः ? **यत्** = यस्मात्—**एतन्मनः** = नलचित्तं, भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद् **भवदेकवृत्ति**। भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। जीवितभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः ॥१०५॥

[दूसरी चित्तासक्ति दशा का वर्णन—] हे भीम-राजकुमारी ! आप बहिर्गता (बाहर रहने अर्थात् दूरस्थित) होने पर भी नल की अन्तर्गता हो (अर्थात् चिन्ता के कारण उनके चित्त के भीतर बसी हुई हो)। भला, ('कया') किस तरह कहूँ कि आप ('अस्य') उनके प्राणों के समान (प्रिय) ('नासि') नहीं हैं ?

अथवा—बहिर्गता होने पर भी आप (सुग्गे की ठोर की तरह) नासिका-सौन्दर्य तथा आस्य-गति (मुखाकृति) के कारण (दूतों की मुँह-जबानी सुनने और चित्र में दर्शन करने पर) हृद्गता नारी हो, अतः उनकी प्राणप्यारी नहीं हो क्या?

अथवा — नासिका-रन्ध्र तथा मुख से बाहर निकलने वाली (श्वासोच्छ्वास-रूपा) होकर भी आप नल की प्राण-वायु हो, फिर नासिका-रन्ध्र तथा मुख के भीतर प्रवेश करने पर, उनकी हृद्गता (हृदय के भीतर रहने वाली) हो।

इसी लिए उनके मन के विषय में—जो एकमात्र आपही में तल्लीन है (अथवा—उनके मन का अद्वितीय जीवनोपाय एकमात्र आप ही हैं उसके सम्बन्ध में) हमारा चित्त रञ्चमात्र भी आश्चर्यान्वित नहीं होता ॥१०५॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतां तदाप्य॥१०६॥

अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति। दूरदीर्घां = अत्यन्तायतां, तदीयां, [सङ्कल्पसोपानततिं] सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि, तेषाम् ततिं पङ्क्तिम् अजस्रं त्वं आरोहसि, श्वासान् पुनः स=नलो अधिकं वर्षति= मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं, तव ध्यानात् त्वन्मयतां = त्वदात्मकत्वम् आप्य = प्राप्य। आप्नोतेराङ् समासे क्त्वो ल्यबादेशः। अन्यथा कथमन्यायासादन्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः। अत्र श्वाससोपानारोहणयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्योक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः। 'कार्य-कारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिः' इति लक्षणात्। तन्मूला चेयं नलस्य दमयन्ती–तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥१०६॥

[तीसरी सङ्कल्पावस्था नामक काम-दशा का वर्णन—]अतीव लम्बी-चौड़ी उनकी कल्पना रूपी सीढ़ियों की कतार (अर्थात् पहले दमयन्ती के साथ विवाह करूंगा, फिर क्रीड़ामन्दिर में उसके केश-कलाप को गुथूंगा, फिर उसके मान करने पर इस प्रकार मनाऊंगा आदि) पर आप चढ़ती रहती हैं। [यदि आप पूछें, कि यह बात तुमने कैसे जानी ? तो इसका उत्तर यह है कि] वे आपके ध्यान में 'त्वन्मय' होकर, बार-बार खूब निश्वास छोड़ते रहते हैं। [जो व्यक्ति किसी का निरन्तर ध्यान करता है तो वह उसी के रूप में मिल जाता है। इस-प्रकार आपका बराबर ध्यान करते रहने के कारण नल आपके–दमयन्ती के-रूप में मिल गये हैं। जो व्यक्ति लगातार सीढ़ी चढ़ता रहता है तो चढ़ने के परिश्रम के कारण साँस खींचने लगता है। यतः आप उनकी सङ्कल्परूप सोपान–परम्परा पर बराबर चढ़ती रहती हैं, इसलिए सीढ़ी पर चढ़ने की थकान—थकावट लम्बी लम्बी आहें खींचने के कारण, त्वन्मय होने से उनमें परिलक्षित होती है] ॥१०६॥

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत्।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥१०७॥

हृदिति। तस्य=नलस्य, हृत्=हृदयं कर्तृ, यां त्वां रहः=उपांशु। 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः। मन्त्रयते=सम्भाषते, तां त्वां, तन्मुखं कर्तृ व्यक्तं=प्रकाशम् आमन्त्रयते। 'हे प्रिये! क यासि मामनुयान्तं पश्य' इत्येवमुच्चैरुच्चरतीति यत्। सा तद्रहस्यप्रकाशनं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता। तन्मुखस्य, [तद्वैरि-पुष्पायुध-मित्र-चन्द्र-सख्यौचिती] तद्वैरिणो नलद्वेषिणः, पुष्पायुधस्य मित्रं सखा शरच्चन्द्रः, तेन यत् सख्यं मैत्री सादृश्यञ्च तस्य औचिती औचित्यं खलु। अरि-मित्रस्याप्यरित्वादुचितमेतद्रहस्यभेदनमित्यर्थः। अत्र मुखकर्तृकरहस्योद्भेदनस्य उक्तवैरनिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥१०७॥

उनका अन्तःकरण एकान्त-स्थल में जो आपसे गुप्त बात करता है (कि हे प्यारी! मुझे आलिङ्गन करो, चुम्बन करो आदि), तो उसे उनका मुख स्पष्ट बता देता है। यह बात नल के वैरी कामदेव के मित्र चन्द्रमा के साथ मित्रता के अनुकूल ही है। [तात्पर्य यह है कि नल का मुँह पीला और मुरझाया रहता है, जिसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आप का ध्यान करने के कारण ही उनका मुख वैसा हो गया है। नल का मुख चन्द्र के समान होने से चन्द्रमा का मित्र है; उधर नल का वैरी कामदेव है क्योंकि वह उन्हें सताता रहता है; कामोद्दीपन करने के कारण चन्द्रमा कामदेव का मित्र है। अस्तु, चन्द्रमा का मित्र—नल का मुख—कामदेव का सहायक हो गया है, गुप्त भेदों को बतला देता है]॥१०७॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥१०८॥

अथ एकेन जागरमरतिञ्चाह—स्थितस्येति। रात्रौ शय्यामधिशय्य=शय्यायां शयित्वा। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यधिकरणस्य कर्मत्वम्। स्थितस्य तस्य=नलस्य मनः, मोहे=सुखपारवश्ये निमज्जयन्ती सती, या आलिङ्ग्य, लोचने चुम्बति। सा निद्रा त्वदृते=त्वत्तो विना। 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादिना पञ्चमी। अङ्गना वा अधुना नास्ति। निद्रानिषेधात्त्वद्विरहाद्धेतोस्त्वदन्या चेति द्रष्टव्यं। अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतजागरः, अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषलक्षणा अरतिश्चोक्ता। अत्र निद्राङ्गनयोः [illegible] तुल्ययोगिता-श्लोरेवालिङ्गनाक्षिचुम्बनादिधर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतिः

लङ्कारः। 'प्रस्तुताऽप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता' इति लक्षणात् ॥१०८॥

[निद्राच्छेद कामदशा का वर्णन--] आपके विना (अर्थात् आपके वियोग में), रात्रि में शय्या पर लेटे हुए, नल के समीप आज कल निद्रा-नायिका नहीं आ रही है—जो उनके मन को मोहित कर, उनके अवयवों पर अधिकार जमा (आलिङ्गन) कर, उनके दोनों नेत्रों का चुम्बन करे। अथवा न कोई दूसरी युवती ही उनके पास आती है, जो उनके चित्त को सम्भोग कार्य में फँसाकर, उन्हें अपने भुज-पाशों में आबद्ध कर, उनके युगल नयनों का चुम्बन करे ॥१०८॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥१०९॥

अथ कार्श्यावस्थामाह-- **स्मरेणेति**। **अयं** = नलः, **स्मरेण बाणैर्निस्तक्ष्य** = निशात्य, **वृथैव [लावण्यशेषां]** लावण्यं कान्तिविशेषः। 'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।' इति भूपालः। तदेव शेषो यस्यास्तां **कृशतां** = तनुतां कार्श्यम**नायि** = नीतः। नयतेर्द्विकर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि लुङ्। 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात्। वृथात्वं व्यनक्ति **अनङ्गतां** कृशाङ्गतां, अनुदरेतिवदीषदर्थे नञ् समासः। **आप्यमानः** = नीयमानोऽपि। अत्र पूर्ववत्प्रधाने कर्मणि शानच्। **तेन** = स्मरेण, **सार्द्धं स्पर्धां न विजहाति** = तथापि तं जिगीषत्येवेत्यर्थः। अङ्गकार्श्ये ऽपि स्पर्द्धाबीजलावण्यस्याकार्श्यादङ्गकर्शनं वृथैवेति भावः। अत एव विशेषोक्तिरलङ्कारः। 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरलङ्कृतिः' इति लक्षणात् ॥१०९॥

[तनुता कामदशा का वर्णन—] कामदेव ने अपने बाणों से बेंध-बेंधकर, नल को ऐसा दुर्बल बना दिया कि अब उनमें केवल लावण्य-मात्र अव-शेष रह गया है; पर अनङ्ग (दुर्बलाङ्ग) बनाये जाने पर भी वे कामदेव के साथ सौन्दर्य की होड़ नहीं छोड़ रहे हैं (अर्थात् शरीर से दुर्बल हो गये हैं तो क्या, फिर भी वे अनङ्ग के सम्मुख अनङ्ग ही हैं और लावण्य में उससे किसी प्रकार न्यून नहीं हैं)। अतः उसका प्रयत्न करना वृथा हुआ ॥१०९॥

स्वस्यापकारं मदनः [illegible] दारेऽपि न लज्जते यत्।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥११०॥

अथ द्वाभ्यां लज्जात्यागमाह—त्वदित्यादि । **स्मरेण तीक्ष्णबाणैः, आततत्य;** शरीरमिति शेषः । **अस्य** = नलस्य, **स्वभावोऽपि** = पापभीरुत्वनीचत्वगर्हताच्छील्यमपि, **कियान्** = अल्पोऽपि **लूनः किम्** इत्युत्प्रेक्षा **यत्** = यस्मात्, **त्वत्प्रापकात्** = त्वत्प्राप्तिसाधनात्, **एनसः** = पापादपि **न त्रस्यति** । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति अपादानत्वात् पञ्चमी । **त्वयि एव दास्येऽपि** = त्वदधिगतदास्यविषये **न लज्जते** ॥

[त्रपानाश कामदशा का वर्णन—] ये नल आपकी प्राप्ति के लिये, (कन्या-अपहरण आदि पाप-कर्म) से भी जो नहीं डरते तथा आपका दास बनने में भी जो लज्जा नहीं करते—उससे स्पष्ट है, कि कामदेव ने तीखे तीरों से, उनके शरीर को छलनीकर, कुछ उनके स्वभाव (प्रकृति) को भी बेंध दिया है क्या ? (अन्यथा इतना आकस्मिक परिवर्तन नहीं होता) ॥११०॥

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोः स्निग्धागदङ्कारचये चिकित्सौ ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥१११॥

स्मारमिति । **घोर**=दारुणं, **स्मारं** ज्वरं कामसन्तापं, **चिकित्सौ** प्रतिकर्त्तरि, 'कित निवासे' इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति 'निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु इष्यते' इति रोगप्रतीकारे सन् प्रत्ययः । 'सनाशंस भिक्ष उः' 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । **स्निग्धागदङ्कारचये**=सिद्धवैद्यसङ्घे । कर्मण्यणि । 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागमः । **निदानमौनात्** = रोगनिदानानभिधानाद्धेतोः **अपत्रपिष्णोः** = लज्जाशीलस्य । 'अलङ् कृञ' इत्यादिना इष्णुच् । **तस्य** = नलस्य, **विशाला** = महती **लज्जा,** संक्रमादागता **सांक्रामिकी रुजेव** । 'अग्निरोगो ह्यपस्मारः क्षयः कुष्ठमसूरिका । दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् संक्रमन्ति नरान्नरम्' इति उक्ताग्न्यादिरोगा इवेत्यर्थः । भिदादित्वादङ् प्रत्ययः । **अविशत्** ॥१११॥

[ज्वररूप कामदशा का वर्णन—] लज्जाशील नल के भयङ्कर काम-ज्वर की चिकित्सा करने के लिए आए हुए, लब्ध-प्रतिष्ठ वैद्यराजों में—(ज्वर के) निदान (आदि-कारण) के बारे में चुप रहने से, स्पष्ट है कि—सांक्रामक रोग (छुतही बीमारी) की तरह, भारी लज्जा (वस्तुतः उनमें) घुस गयी [अर्थात् नल की असाध्य बीमारी का समाचार सुनकर, भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कविराज उनकी चिकित्सा करने के लिए आये । उन्हें देखकर नल को बड़ी लज्जा आ गयी कि अब तो ये वैद्यराजगण हमारे मन्मथ-विकार को जान जायंगे । उधर वैद्यों ने

जो नाड़ी, नेत्र, मुख, जिह्वा आदि की परीक्षा की, शरीर का पीलापन देखा तो उनको काम-ज्वर से पीडित पाया। किन्तु भारत-नरेश के सम्मुख लज्जा के कारण वे मूल रोग को नहीं बता सके। इस पर हमारे कवि उपर्युक्त उत्प्रेक्षा करते हैं कि नल की लज्जा, छुतही बीमारी की तरह, वैद्यों को लग गयी] ॥१११॥

बिभेति रुष्टासि किलेत्यकस्मात् स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥११२॥

अथ उन्मादावस्थामाह—बिभेतीति। स = नलः, अकस्माद् = अकाण्डे रुष्टा = कुपिता असि, इति बिभेति। अकाण्डे = अनवसरे त्वां उपेत्य किल = प्राप्येव, हसति। अहेतोः अकस्माद्यान्तीं = गच्छन्तीं किल त्वामनुयाति। त्वया युक्त इव मोघं = निर्विषयं प्रतिवक्ति। सर्वोऽप्ययमुन्मादानुभावः। 'उन्मादश्चित्तविभ्रमः' इत्यमरः ॥११२॥

[उन्माददशा का वर्णन—] (हे दमयन्ती !) आप रुष्ट हो गयी हैं–ऐसा आपको प्रणयकुपिता अनुमान कर, वे नल एकाएक काँप उठते हैं। आप उन्हें मिल गयी हैं—ऐसी सम्भावना करके, वे अनवसर ही खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। आप मानों चली जा रही हैं—ऐसा समझ कर, अकारण ही आपके पीछे-पीछे चलने लगते हैं। मानों आपने उन्हें सम्बोधित करके, कुछ कहा है—ऐसा जानकर, वे वृथा ही आपको प्रत्युत्तर देने लगते हैं ॥११२॥

भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारा-यमस्वसुर्मज्जति निःशरण्यः।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हाहा ! महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥११३॥

अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति। [भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारा-यमस्वसुः] भवत्याः वियोगो भवद्वियोगः। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना विदिभिदिच्छिदेः कुरच्। आर्तिधारा दुःखपरम्परा, तस्या एव यमस्वसुः = यमुनायाः। [मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के] मूर्च्छामयं मूर्च्छावस्थारूपं यद्द्वीपं, तत्र यन्महान्ध्यं महामोहः, तस्मिन्नेव पङ्के अयं [महीभृद्भटकुञ्जरः] महीभृद्भटो राजवीरः, स एव कुञ्जरः, निःशरण्यः = निरालम्बः सन् मज्जति। 'हा हा' इति खेदे। रूपकालङ्कारः। आर्तिधारायास्तमोविकारत्वेव रूपसाम्याद्यमुनारूपणम् ॥११३॥

[मूर्च्छादशा का वर्णन—] हाय ! हाय ! अवलम्बन (आश्रय) हीन योद्धा

नल रूपी गजराज—आपके विरह से उत्पन्न हुई, निरन्तर पीडा की धारा रूप यमुना नदी के, मूर्च्छारूपी द्वीप के, अत्यन्त अज्ञान (मोह) रूप कीचड़ में—धँसते चले जा रहे हैं (अर्थात् जिस प्रकार यमुना नदी के कछार के कीचड़ में फँस कर कोई हाथी आश्रयहीन हो जाता है, उसी प्रकार राजा नल भी मूर्च्छा के वश में होकर, बेबस हो रहे हैं। आप ही एकमात्र उन्हें उस कीचड़ से बाहर निकाल सकती हैं) ॥११३॥

सव्यापसव्य-त्यजनाद्द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु।
दशासु शेषा खलु तद्दशाया तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण ॥११४॥

दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह—सव्येति। [सव्यापसव्य-त्यजनात्] सव्यापसव्याभ्यां वाम-दक्षिणाभ्यां, त्यजनान्मोचनात्, द्विरुक्तैः = द्विगुणीकृतैः, दशभिरित्यर्थः। पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु = प्रत्येकमुत्पादितासु, दशासु। "दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पो जागरः कृशतारतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश॥" इत्युक्तासु चक्षुःप्रीत्यादिदशावस्थासु। शेषा = अवशिष्टा या तद्दशा = दशमावस्थेत्यर्थः। तयैव कोरकेण = कलिकया इति रूपकम्। नभः पुष्प्यतु = पुष्पितमस्तु। अस्य सा दशा खपुष्पकल्पास्तु, कदापि मा भूदित्यर्थः। तच्च त्वत्प्राप्तिलाभादिति भावः। 'पुष्प विकसने' इति धातोर्लोट् ॥११४॥

[अन्तिम 'मरण' दशा का वर्णन—] (पाँच) बाँए और (पाँच) दाहिने हाथ से छुटने के कारण, दुगुने (अर्थात् दश) पञ्च-बाण कामदेव के बाणों से रची गयी दश दशाओं में (नौ को तो नल ने भोग लिया है, अब) जो एक अन्तिम दशा शेष बच रही है, वह (मरण) दशा पुष्पकलिका के समान (अर्थात् कली ही के रूप में) आकाश में ही विकसित होती रहे (अर्थात् आकाश-कुसुम की भाँति नल की अन्तिम दशा हो) ॥११४॥

त्वयि स्मराधेः सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृतास्मि तेन।
आगत्य भूतः सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥११५॥

त्वयीति। त्वयि विषये, स्मराधेः = स्मरपीड़ा दुःखाद्धेतोः, सततमस्मितेन = स्मितरहितेन खिन्नेन, तेन भूमिभृता = नलेन प्रस्थापितोऽस्मि। अथ भवत्याः = तव भावप्रतीत्या = अभिप्रायज्ञानेन, आगत्य, गुणलोभवत्याः सफलो भूतः = सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थः ॥११५॥

काम-व्यथा से निरन्तर खिन्न रहनेवाले, राजा नल ने मुझे आपके पास भेजा है। यहाँ आकर, (नल के सौन्दर्य, शौर्य, विद्या, विनय आदि गुणों पर मुग्ध होने वाली) आप जैसी गुण-ग्राहिणी के प्रेम भाव को जान कर, मैं कृत-कृत्य हो गया ॥ ११५ ॥

धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥११६॥

धन्येति । हे **वैदर्भि !**=भैमि !; वैदर्भीरीतिरपि गम्यते । धनं लब्धा **धन्या असि** = कृतार्थासीत्यर्थः । 'धनगणं लब्धा' इति यत्प्रत्ययः । कुतः ? **यया** = त्वया **उदारैः**=उत्कृष्टैः **गुणैः** = लावण्यादिभिः, अन्यत्र, श्लेषैः प्रसादादिभिः, पाशैश्चेति गम्यते । **नैषधः** = नलोऽपि, तादृक् धीरोऽपीति भावः । **समाकृष्यत**=सम्यगाकृष्टो वशीकृत इति भावः । एतेन वैदर्भीत्यादिविशेषणाद्गुणैर्भाविकमिवेत्युपमालङ्कारो युज्यते । तथाहि— **चन्द्रिकायाः**, **अब्धिमपि**, गभीरमपीति भावः । **उत्तरलीकरोति**=क्षोभयतीति **यत्** । **इतोऽपि**=अभ्यधिका **स्तुतिः**=वर्णना । **का खलु** = न कापीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः । एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयन्त्याश्चन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥ ११६ ॥

हे विदर्भ राजकुमारी ! आप धन्य हैं, क्योंकि आपने अपने महान् (सौन्दर्य, शील आदि) गुणों से (अतीव धीर, वीर, गम्भीर) निषध-राज नल को भी आकृष्ट (अनुरक्त, वशीभूत) कर लिया । [दूसरा अर्थ—हे वैदर्भी रीति ! तुम धन्य हो, क्योंकि तुमने अपने श्लेषादि अलङ्कारों तथा माधुर्य-प्रसादादि गुणों से सुप्रसिद्ध धीर नैषध के चित्त को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया]। उस चन्द्रिका (चाँदनी) की इससे अधिक और क्या प्रशंसा की जाय—जो अत्यन्त गम्भीर समुद्र को भी उतावला (ज्वारभाटायुक्त) बना देती है ॥ ११६ ॥

नलेन भायाः शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव ।
पुनःपुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥११७॥

फलितमाह **नलेति** । **शशिना** निशा इव त्वं **नलेन भायाः** = भाहि । भातेराशिषि लिङ् । सोऽपि **निशया शशीव त्वया भायात्** = भातु । भातेः पूर्ववदाशिषि लिङ् । किं च अत्र दैव... ...मित्याह-**पुनः पुनः** = मुहुर्मुहुः; तयोर्निशा-शशिनोर्युगं, युनक्ति योजयतीति **तद्युगयुक् विधाता, युवां** =

नलं त्वाञ्च। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इति एकशेषः। योक्तुमिच्छतीति **युयुक्षुः** युजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। **स्वभ्यासं** = अभ्यासस्य समृद्धौ, निरन्तराभ्यास इत्यर्थः। समृद्ध्यर्थेऽव्ययीभावः। ततः परस्याः सप्तम्या वैकल्पिकत्वादम्भावः। **आस्ते नु** = तथाभ्यस्यति किमित्यर्थः। अत्र तादर्थ्ये चतुर्थ्या अम्भाव इति व्याख्याने अभ्यासार्थमभ्यस्तीत्यर्थः स्यात् तदात्माश्रयत्वादित्यपेक्षणीयं। अत्र दमयन्ती-नलयोरन्योन्यशोभाजननोक्तेरन्योन्यालङ्कारः। 'परस्परक्रियाजननमन्योन्यम्' इति लक्षणात्। 'उपमाद्द्यानुप्राणित' इति सङ्करः। तन्मूला चेयं विधातुः पुनर्निशाशशियोजनायां दमयन्ती-नलयोजनाभ्यासत्वोत्प्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

आप की शोभा नल के साथ ऐसी हो, जैसी निशा-नायिका अपने निशा-नाथ पूर्ण चन्द्र के साथ शोभा पाती है, और नल की शोभा आप के साथ वैसी हो जैसी चन्द्रमा की शोभा रात्रि के साथ होती है। (जिस प्रकार कोई शिल्पकार किसी सुन्दर वस्तु के निर्माण के पूर्व उसका बार-बार अभ्यास करता है, उसी प्रकार) बार-बार रात्रि और चन्द्रमा का जोड़ा मिलाने वाले ब्रह्मा, मालूम पड़ता है कि आप दोनों को दम्पतिरूप में मिलाने के लिए, पूर्वाभ्यास कर रहे हैं क्या ?॥

स्तनद्वये तन्वि! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्राबलीनां रचना समाप्तिम् ॥११८॥

स्तन इति। हे **तन्वि**! किञ्च, **नैषधस्य** = नलस्य, [**अनल्प-वैदग्ध्य-विवर्द्धिनीनां**] अनल्पेन महता, वैदग्ध्येन नैपुण्येन, विवर्धनीनामुज्जृम्भणीनां, **पत्राबलीनां, रचना समाप्तिं** = सम्पूर्णतां प्राप्स्यति यदि, तर्हि **पृथौ** = पृथुनि; भावितपुंस्कत्वाद्विकल्पेन पुंवद्भावः। **तवैव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति**; नान्यस्या इत्यर्थः। अन्यस्या अयोग्यत्वादिति भावः ॥११८॥

हे कृशाङ्गी! महाराज नल के अत्यधिक प्रावीण्य को प्रकट करने वाली, पत्राकार चित्र परम्परा की बनावट—यदि कहीं समाप्ति प्राप्त कर सकती है तो एकमात्र आपके विशाल उरोज-युगल में (अर्थात् महाराज नल स्तनों पर पत्रावली की रचना करने में बड़े कुशल हैं; किन्तु उनकी रचनाएं विस्तृत स्थल चाहती हैं, अतएव वे रचनाएँ आपके विशाल दोनों स्तनों पर बहुत अच्छी तरह हो सकती हैं जिन से नल की प्रवीणता सिद्ध होगी। उनकी अन्य रमणियों के स्तन अत्यन्त छोटे-छोटे

हैं, जिन पर न तो पत्रावली की रचना हो सकती है और न उनकी प्रवीणता ही प्रकट हो सकती है) ॥ ११८ ॥

एकः सुधांशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युति-सद्वितीयः ॥११९॥

एक इति। एकः सुधांशुस्त्वन्नयनद्वयस्य, कथञ्चन=कथञ्चिदपि, [तृप्तिक्षमः] तृप्तौ प्रीणने, क्षमो न स्यात् तत्=तस्मात् [नलास्य-शीतद्युति-सद्वितीयः] नलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीयः सन्। [त्वल्लोचनासेचनकः] त्वल्लोचनयोरासेचनकस्तृप्तिकरोऽस्तु। 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्' इत्यमरः। आसिच्यते आप्यतेऽनेनेत्यासेचनकं; करणे ल्युट्; स्वार्थे कः ॥११६॥

अकेला चन्द्रमा किसी तरह भी आपके युगल नयनों को तृप्त करने में समर्थ नहीं हुआ, (क्योंकि वह अकेला है, और तुम्हारे पास दो आँखें हैं,' भला एक व्यक्ति दो को कैसे सन्तुष्ट कर सकता है) इसी लिए नल का मुख-रूपी दूसरा चन्द्र बनकर, आपके युगल नेत्रों को अतीव तृप्तिकारक होगा ॥११६॥

अहो तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरो रज्यति यत्कलम्बः ॥१२०॥
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥१२१॥

अथ द्वाभ्यां नलतपःसाफल्यमाह—अहो इत्यादिना। नलस्यायं नलीयः। 'वा नामधेयस्य' इति वृद्धसंज्ञायां, वृद्धाच्छः। तप एव कल्पतरुः=अभिनवः प्रसिद्धकल्पतरुविलक्षण इत्यर्थः। अत एव अहो=इत्याश्चर्यं। वैलक्ष्यमेवाह—त्वदित्यादि। अत्रापि यच्छब्दो द्रष्टव्यः। यः कल्पतरुः, [त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः] तव पाणिजाग्रैः कररुहाग्रैर्नित्यं स्फुरन्ती, अङ्कुरश्रीर्यस्य सः, अङ्कुरवानित्यर्थः। यस्य त्वद्भ्रूयुगमेव, द्वयोः पत्रयोः समाहारो द्विपत्री=प्रथमोत्पन्नपत्रद्वयं खलु। तवाधरो यत्कलम्बः=यस्य नासिकाकिसलयकाण्ड इत्यर्थः। 'अस्य तु नालिका कलम्बश्च' इत्यमरः। रज्यति=स्वयमेव रक्तो भवति। 'कुषिरजोः प्राचां सन्' 'परस्मैपदञ्च' इति कर्मकर्तरि रूपम् ॥१२०॥

य इति। यस्ते=तव, कराभ्यां नवः=अभिनवः पल्लवितः सञ्जातपल्लवः। यस्तव स्मितेन कोरकितः=सञ्जातकोरकः सन् आस्ते। यस्तव [अङ्ग-

प्रदिम्ना] अङ्गानां म्रदिम्ना मार्दवेन, पुष्पितः = सञ्जातपुष्पः। यस्तवैव, स्तन-श्रिया=स्तनसौन्दर्य्येण, फलितः = सञ्जातफलः। सर्वत्र तारकादित्वादितच् प्रत्ययः। अत्र श्लोकद्वयेन नलतपसि दमयन्तीनखादिषु च कल्पतरुतावयवत्वरूपणात् सावयव-रूपकं तथा अवयविनि कल्पतरोरवयवानां नखाङ्कुरादीनाञ्च मिथः कार्यकारणभूतानां भिन्नदेशत्वादसङ्गत्याश्रितमिति सङ्करः। 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिः' इति लक्षणात् ॥१२१॥

महाराज नल का तपरूप कल्पवृक्ष बड़ा ही आश्चर्यजनक है। देखिए, आप की अङ्गुलियों के नखों के जो (लाल-लाल) किनारे हैं, वे ही मानों उस (कल्प-वृक्ष) की अङ्कुर–श्री है। आप की दोनों भौंहें मानों उस (कल्पवृक्ष) की (अँखुआ फूटने के बाद, तत्तुल्य वक्र एवं कृश) दो महीन पत्तियाँ निकली हैं। आप का अधर उस (कल्पवृक्ष) का मानों लाल-लाल नाल है। आपके (रक्त) करतल उस (कल्पवृक्ष) के नवीन पल्लव हैं। आप की मन्द मुस्कराहट ही मानों उस (कल्पवृक्ष) की कलियाँ खिली हैं। उस (कल्पवृक्ष) में आप के अङ्गों की सुकुमारता रूप (कोमल) पुष्प खिल रहे हैं और उस (कल्पवृक्ष) में आपके स्तनों की शोभा रूप (गोल २ बड़े २) फल लगे हुए हैं ॥१२०–१२१॥

कंसीकृतासीत् खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥१२२॥

किञ्च, समानुरागत्वाच्च युवयोः समागमः श्लाघ्य इत्याशयेनाह—**कंसीति**। स्मरेण कर्त्रा, वां = युवयोः **मिथोऽनुरागस्य** = अन्योन्यरागस्य, यस्तव तस्मिन्, यश्च तस्य त्वयि तयोरनुरागयोरित्यर्थः। **समीकृतौ** = समीकरणे निमित्ते, तदर्थ-मित्यर्थः। [**संसक्तरश्मिप्रकरा**] संसक्तः संयोजितः, रश्मीनामंशूनां, सूत्राणाञ्च, प्रकरः समूहो यस्यां सा। 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। **इन्दोर्मण्डली** = बिम्बं, **कंसीकृता** = लोहपात्रीकृता, **आसीत्**। 'कंसोऽस्त्री लोहभाजनम्' इति शाब्दिक-मण्डने। मण्डले निजा **नाराचलता** = बाणवल्ली **सैव, तुला च** तुलादण्डश्च, कृतेति शेषः। तत्रेन्दुमण्डलादौ कंसादिरूपणादेव स्मरस्य कार्यकारणरूपसिद्धेरेकदेश-विवर्तिरूपकम् ॥१२२॥

कामदेव ने आप दोनों के पारस्परिक अनुराग को तौलने के लिए चन्द्रमण्डल को (तराजू का) पलड़ा बनाया, किरण-समूहों को (तराजू की) रस्सी, और अपने

(काम-वाणों) लतातुल्य बारीक नाराच-बाण को (तराजू की) डण्डी बनाया ॥ १२२ ॥

सत्त्व-स्रुत-स्वेद-मधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूयः ॥१२३॥

सत्त्वेति । किं च, **मदनोत्सवेषु** = रतिकेलिषु, [**सत्त्व-स्रुत-स्वेद-मधूत्थ-सान्द्रे**] सत्त्वेन मनोविकारेण, स्रुतो यः स्वेदः सात्त्विकविकारविशेषः, तेनैव मधूत्थेन मधूच्छिष्टेन, सान्द्रे निरन्तरे । अत एव [**तत्पाणिपद्मे**] तस्य नलस्य पाणिपद्मे, [**लग्नोत्थिताः**] लग्नाः संक्रान्ताः । अत एव उत्थिताः त्वत्कुचतटादविश्लिष्टाः, मधूच्छिष्टे निकषस्थकनकरेखावदिति भावः । स्नातानुलिप्तवत् पूर्वकालसमासः तन्निर्गताः = तत्पाणिपद्मोत्पन्नाः, त्वत्कुचपत्ररेखाः भूयः तत् = पाणिपद्मं । 'वा पुंसि पद्मं नलिनम्' इत्यमरः । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः । युवयोः समागमोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥१२३॥

सुरत-क्रीडा के अवसर पर, सात्त्विक भाव से निकले हुए पसीने रूप मोम से स्निग्ध (तरल) हुए, नल के कर-कमलों में—आप के स्तनों पर, उनके पाणिपद्मों द्वारा की गयी पत्रावली की रचना—कुचों के गाढ मर्दन-काल में फिर (उन्हीं के कर कमलों में)—लग जाय [अर्थात् जिस प्रकार मोम के बने हुए साँचे पर, उसके तरल हो जाने पर, दूसरी वस्तु की प्रतिकृति उभर जाती है, उसी प्रकार सम्भोग क्रीडा के अवसर पर कुच-मर्दन करते समय पसीने से तर हुए, नल के हाथों में, आपके स्तनों पर बनी हुई पत्रावली की रचना, ठप्पे की तरह उभर जाय] ॥ १२३ ॥

बन्धाढ्य-नाना-रत-मल्लयुद्ध-प्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः ।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥१२४॥

बन्धेति । किं च, हे **भैमि** ! [**बन्धाढ्य-नाना-रत-मल्लयुद्ध-प्रमोदितैः**] बन्धैरुत्तानादिकरणैः कामतन्त्रप्रसिद्धैः, आढ्यं समग्रं, नानारतं उत्तानकाविविधसुरतं, तदेव मल्लयुद्धं, तेन प्रमोदितैः सन्तोषितैः, **केलिवने मरुद्भिः** = वायुभिर्देवैश्च । 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । [**पुनरुक्तमुक्तां**] पुनरुक्तं सान्द्रं यथा तथा, मुक्तां प्रसूनवृष्टिं, युवतिश्च युवा च युवानौ । 'पुमांस्त्रिया' इत्येकशेषः । युवां

प्रतीच्छतं = स्वीकुरुतम् । युद्धविक्रान्ता हि देवैः पुष्पवृष्ट्या सम्भाव्यन्त इति भावः ॥ १२४ ॥

हे भीम-राजकुमारी ! आप दोनों—युवा तथा युवती—विहार-वाटिका में (पद्मासन, नागपादासन, लता-वेष्टन, विपरीतासन आदि) विविध आसनों से सुरतरूप मल्लयुद्ध द्वारा, अत्यन्त प्रमुदित हुए (शरीर मर्दन के कारण पुष्प-शय्या से उठी हुई सुगन्धि मिश्रित) पवन द्वारा बार-बार उड़ायी गयी पुष्प-वर्षा को स्वीकार करें [अर्थात् जिस प्रकार दो मल्लों को मल्लशाला में मल्लयुद्ध करते देखकर, उनके धोबीपाट-घिस्सा-लपेटन-कमरतोड़ आदि विविध दाँव पेचों से प्रसन्न होकर, दर्शकगण उन पर पुष्प-वृष्टि करते हैं उसी प्रकार आप दोनों कामक्रीडा के अखाड़े में, कामशास्त्र में वर्णित विविध आसनों द्वारा पवनदेव को प्रसन्न करें जिससे वे राजकीय उद्यान के पुष्पों द्वारा आप लोगों का अभिनन्दन करें] ॥१२४॥

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभातां तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम् १२५

अन्योन्येति । किं च, अधुना अन्योन्यसङ्गमवशात् विकसद्विलासे = वर्धमानोल्लासे, तस्यापि तेऽपि = नलस्य तव च, मनसी मनसिजस्य = कामस्य, तनु = शरीरं, पुनः स्रष्टुम् = आरब्धुं प्रवृत्तमत एवादौ [द्व्यणुककृत्] द्वाभ्यामारब्धं कार्यं द्व्यणुकं, तत्करोतीति तत्कृत् तदारम्भकं करोतेः क्विप् । तत्परमाणुयुग्ममिव इत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति भावः । विभातां = कार्यारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थः । भातेर्लोट् । तस्येति तसः तामादेशः ॥ १२५ ॥

इस समय परस्पर (शारीरिक) सङ्गम होने के कारण, काम-विलास विकसित हो, उन नल के एवं आपके मनो-द्वय में (मनसिज) कामदेव का शरीर फिर मूर्तिमान् होने के लिए प्रवृत्त हो, जिस प्रकार आरम्भ में दो परमाणु द्व्यणुक उत्पन्न करते हैं [अर्थात् नैयायिकों एवं वैशेषिक मतवादियों के कथनानुसार जिस प्रकार आरम्भ में परमात्मा की इच्छा से परमाणु मिलकर, द्व्यणुक उत्पन्न करते हैं और फिर क्रमशः सृष्टि की रचना होती है उसी प्रकार महादेव जी के तीसरे नयन की ज्वाला में भस्म हुए कामदेव को पुनर्जीवित करने के लिए, आप दोनों के परस्पर

अनुराग करने वाले, दो परमाणु-तुल्य मन उपक्रम कर रहे हैं। अतः द्व्यणुक-तुल्य 'मनसिज' का प्रादुर्भाव सम्भव है] ॥१२५॥

काम: कौसुम-चाप-दुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
वंल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ।
ग्रीवालङ्कृति-पट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णु कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥१२६॥

काम इति। असौ, यो नलजिगीषुरिति भावः। कामः, [कौसुम-चाप-दुर्जयं] कौसुमेन चापेन दुर्जयं, जितेन्द्रियत्वादिति भावः। अमुं नृपं = नलं जेतुम् अव्रणवंशजां = सत्कुलप्रसूतां, दृढवेणुजन्यां च। 'द्वौ वंशौ कुलमस्करौ' इति अमरः। अधिगुणाम् = अधिकलावण्यादिगुणाम्, अधिज्यां च। [निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया] निवसदनुवर्तमानं सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थायां नालान्तराले क्षिप्तस्य, सौन्दर्यं शोभा यस्यां तया, कषरेखया = कालान्तरे सिन्दूरसंक्रान्तिपरीक्षार्थं कृतघर्षणरेखया इव इत्युत्प्रेक्षा। पृष्ठे = ग्रीवापश्चाद्भागे, कियत् किञ्चिद्यथा तथा, लम्बया स्रस्तया, [ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया] ग्रीवालङ्कृतिः ग्रीवालङ्कारभूता, या पट्टसूत्रलता, तया, भ्राजिष्णुं ताच्छील्ये भ्राजमानां 'भुवश्च' इति चकारादिष्णुच्। त्वामेव धनुर्वल्लीं चापलताम्, आसाद्य, माद्यति = हृष्यति। श्लेषोत्प्रेक्षासङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः ॥ १२६ ॥

यह कामदेव, अपने (प्राचीन अस्त्र) कुसुम-धनुष द्वारा, उन राजा नल को जीतना दुष्कर समझ कर, उन्हें जीतने के अभिप्राय से-निर्दोष वंश में उत्पन्न हुई, (शील सौन्दर्य आदि) अतिशय गुणवती, पीठ पर कुछ-कुछ लटकने वाली, लाल-लाल सिन्दूर के सौन्दर्य से मनोहारिणी, कसौटी की सुवर्ण रेखा के समान प्रकाशमान, ग्रीवा की अलङ्काररूपी पट्ट-सूत्र- लता द्वारा शोभाशालिनी—आप जैसी (अर्थात् दमयन्तीरूप) धनुष-लता को पाकर, प्रसन्नता के मारे फूला अङ्ग नहीं समा रहा है (कि अब तो मेरा लक्ष्य बच कर कहीं नहीं जा सकता)। [जिस प्रकार कोई धनुर्धारी अव्रण अर्थात् बिना घुने हुए अच्छे बाँस को लेकर, उसका धनुष बना कर, उस पर अधिगुण अर्थात् प्रत्यंचा चढ़ा कर, उसके पृष्ठ भाग पर, सिन्दूर रगड़ कर, ... की ... करता है (यदि बाँस पर सिन्दूर लकीर की तरह पड़ जाता है तो वह उत्कृष्ट कोटि का धनुष माना जाता है) उसी प्रकार

प्रसिद्ध धनुषधारी कामदेव ने अपने प्राचीन अस्त्र पुष्प-धनुष द्वारा नल को जीतना असाध्य समझ कर, उन्हें जीतने की अभिलाषा से जब आपको अपना नवीन अस्त्र धनुर्वल्ली बनाया तो आपकी भी परीक्षा ली। आप चमकती हुई पट्ट-सूत्र-लता से शोभा शालिनी हैं—जिसमें सिन्दूर का सौन्दर्य जगमगा रहा है, जो आपकी गरदन की अलङ्कार स्वरूपा है और पीठ पर कुछ-कुछ लटक रही है। उसके देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानों सिन्दूर के रगड़ने से पड़ी हुई लकीर हो] ॥१२६॥

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुलिकास्तं राजहंसं विभो-
वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्क-निवास-लालिततम-ज्या-भुज्यमानं लस-
न्नाभी-मध्य-बिला विलासमखिलं रोमालिरालम्बते ॥१२७॥

त्वदिति। विभोर्मनोभुवः कामस्य पक्षिवेद्धुरिति शेषः। [त्वद्गुच्छावलि-मौक्तिकानि] तव गुच्छावलेर्मुक्ताहारविशेषस्य, मुक्ता एव मौक्तिकानि 'विनयादित्वात् स्वार्थे ठक्' इति वामनः। गुलिकाः = घुटिकाः, विद्धि = जानीहि। तं राजहंसं = राजश्रेष्ठं, तमेव राजहंसं कलहंसं, श्लिष्टरूपकम्। 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयोः इति विश्वः। वेधितुं प्रहर्तुमर्हं वेध्यं=लक्ष्यं। 'विधवेधने' 'ऋहलोर्ण्यत्' अनेकार्था धातवः। एवमाह-'वेधितच्छिद्रितौ' इत्यत्र स्वामी। अन्ये त्वाहुः। स्वल्पेऽपि विधानार्थ एव प्रयोगाच्च। 'विध वेधने' इत्येवाकरस्थः पाठः। पाठान्तरं तु प्रामादिकमन्धपरम्परायातमिति विद्धि। स्वम् = आत्मानमपि। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वम्'इत्यमरः। तां = वक्ष्यमाणप्रकारां मञ्जुं = मञ्जुलां धनुर्मञ्जरीं = चापवल्लरीं, विद्धि। [यन्नित्याङ्क-निवास-लालिततम-ज्या-भुज्यमानं] यस्याः धनुर्मञ्जर्याः, नित्यमङ्कवासेन समीपस्थित्या, लालिततमया अत्यादृतया, ज्यया मौर्व्या, भुज्यमानमनुभूयमानम्, अखिलं विलासं = शोभां ज्यारूपतामित्यर्थः। [लसन्नाभी-मध्य-बिला] लसन्नाभ्येव मध्यबिलं, गुलिकास्थानं यस्याः सा, रोमालिस्त्वद्रोमराजिः, आलम्बते = भजति। अत्र मौक्तिकादौ गुटिकाद्यावयवरूपणात्, अवयविनि कामे वेद्धृत्वरूपणस्य गम्यमानत्वादेकदेशविवर्त्तिसावयवरूपकमलङ्कारः ॥१२७॥

आप अपनी (बत्तीस दाना वाली) मोतियों की बनी हारावली को विभु (बल-शाली) कामदेव की गुलिका जानिए। उन राजहंस (राजाओं में श्रेष्ठ, राजाधि-

राज) नल को (विभु कामदेव का) निशाना जानिए। आप अपने (शरीर) को (विभु कामदेव की) सुन्दर धनुष-वल्लरी जानिए। (आप के शरीर रूपी धनुर्वल्लरी के) बीच का छेद--नाभि--है, जिस बिल में गुलिका रखी जाती है और (आप के वक्षःस्थल से लेकर नीचे की ओर जाने वाली रोमावली) रोओं की पंक्तियाँ उस धनुर्वल्लरी की सदा बीच में रहने वाली डोरी (गुण) की सारी शोभा (विलास-लीला) को धारण करती हैं (अर्थात् नल को जीतने के लिए आप ही कामदेव की उपयुक्त हथियार हैं) ॥१२७॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे।
निर्विद्याश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाधुना
पत्रालिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते ॥१२८॥

पुष्पेषुरिति। यः **पुष्पेषुः**=कामो **यज्जितः**=येन नलेन, सौन्दर्यात्पराभूतः। अत एव **निर्विद्य**=ईर्ष्यया जीवनवैयर्थ्यं मत्वेत्यर्थः। 'तत्त्वज्ञानोदितेर्ष्यादेर्निर्विदो निष्फलत्वधीः'इति लक्षणात्। **ते**=तव, **चिकुरेषु**=केशेषु, **स्वं**=स्वकीयं, **शरचयं**, त्वद्धृतकुसुमव्याजादिति भावः। **भालमूले**=ललाटभागे, **धनुः**, भ्रूव्याजादिति भावः। तथा **रौद्रे**=रुद्रसम्बन्धिनि, **चक्षुष्येव**। **अनुभ्राष्ट्रम्**=अम्बरीषे। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना'इत्यमरः। **तनुं**=शरीरं **च चिक्षिपे**=क्षिप्तवान्। पूर्वमेव दग्धतनुव्याजादिति भावः। स्वरितेत्वात्तङ्। **स**=पुष्पेषुर्**वितनुः**=अनङ्गः सन्, **अधुना तज्जयाय**=नलविजयार्थं, **त्वाम्** एवा**श्रमं**=तपोवनम् **आश्रयत्**=आश्रितवान्; तपश्चर्यार्थमिति शेषः। अन्यथा, कथं तं जेष्यतीति भावः। अत एव [**त्वदुरोज-शैलनिलया**] त्वदुरोज एव शैलो निलयो यस्याः सा, तन्निष्ठेत्यर्थः। **पत्रालिः**=पत्ररचना पर्णचयश्च, [**तत्पर्णशालायते**] तस्य कामस्य पर्णशालायते। सेव आचरति, उपमानात् कर्त्तुः क्यङ्। अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीनां पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिगरणेन तदभेदाध्यवसायाद्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्तिः। तत्पर्णशालायत इत्युपमा चोत्थापितेन त्वमाश्रममिति रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। कामस्याश्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥१२८॥

उस पुष्प-धन्वा कामदेव ने, नल से (सुन्दरता में) पराजित हो, ईर्ष्या के

कारण अपने जीवन को व्यर्थ समझ कर, आपके केश-कलाप में, अपने पुष्परूपी बाणों को फेंक दिया (अर्थात् आपके शिर के बालों में गूँथे गये फूल ही कामदेव के पुष्प-बाण हैं, जिनके दर्शन मात्र से कामोद्दीपन होता है)। आप के ललाट के निचले भाग अर्थात् भौहों में उसने अपने धनुष को फेंक दिया (अर्थात् आप की भौंह कामदेव की धनुष है—जिस के देखने से कामोद्दीपन होता है) और अपने शरीर को उसने भट्टी के समान महादेव जी के नेत्र में झोंक दिया। अब उसने वितनु (अनङ्ग) होकर, उन नल को जीतने के अभिप्राय से तप करने के हेतु, आप के शरीररूपी तपोवन में आश्रय लिया है। आप के युगल स्तनरूपी पर्वत (के उत्तुङ्ग शिखर) पर, रची हुई पत्रावली ही (कामोद्दीपन होने के कारण) उसकी पर्णशाला हो रही है। [जिस प्रकार कोई योद्धा अपने शत्रु से पराजित होकर, अपने समूचे हथियार डालकर, ग्लानि के कारण, अपने शरीर को अग्नि से सन्तप्त कर, वैरी-विजय के लिए, पर्वत पर जाकर, पत्तों की कुटिया बनाकर, दुष्कर तप करता है; उसी प्रकार कामदेव ने भी आप के स्तन-शैल पर जाकर पत्रावली रूपी पत्तों की कुटिया में आश्रय बना कर, तप करना आरम्भ कर दिया है]॥१२८॥

इत्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं
सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः।
शर्मास्तु ते बिसृज मामिति सोऽप्युदीर्य
वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम् ॥१२९॥

इतीति। तत्र = तस्मिन्, पतत्रिणि = हंसे भैमीम् इति = इत्थम् आलपति = भाषमाणे सति, अथ = अस्मिन्नवसरे, चिरात्प्रभृति, [तदनुसन्धि-पराः] तस्या भैम्याः, अनुसन्धिरन्वेषणम्। 'उपसर्गे घोः किः' इति किः। तत्पराः सख्यः, परीयुः=परिवव्रुः। इणो लिट्। अथ स=हंसोऽपि ते=तव, शर्मास्तु=सुखमस्तु, मां विसृज इत्युदीर्य वेगान्निषधाधिपराजधानीं जगाम ॥१२९॥

उस पक्षिराज हंस के उपर्युक्त बातों के कह चुकने के बाद, दमयन्ती को बहुत देर से ढूँढ़ने में लगी हुई सहेलियों ने, वहाँ जाकर, उसे घेर लिया। तब (उन्हें आती हुई देखकर) वह राजहंस भी—'आप सुखी रहें और मुझे विदा दें'—ऐसा कह, बड़ी तेजी के साथ, नैषधनगर की ओर उड़ गया ॥ १२९ ॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रयत्-
प्रेयोदूत-पतङ्ग-पुङ्गव-गवी-हैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीम मृष्टसुरभि प्राप्तापि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्छ मूर्च्छामपि ॥१३०॥

चेत इति । सा = भैमी, [चेतोजन्म-शर-प्रसून-मधुभिः] चेतोजन्मनः कामस्य, शरप्रसूनानां शरभूतपुष्पाणां, मधुभिस्तद्रसैः, क्षौद्रैश्च । 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि'इत्यमरः । व्यामिश्रतामाश्रयत् = तथा मिश्रं सदित्यर्थः । असीम = निःसीम, अपरिमितमित्यर्थः । नकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः । [मृष्टसुरभि] मृष्टं शुद्धम्, अन्यत्रामलं, तच्च तत् सुरभि सुगन्धि च । खञ्जकुब्जवद्विशेषणसमासः । [प्रेयो-दूत-पतङ्ग-पुङ्गव-गवी-हैयङ्गवीनं] प्रेयसो नलस्य, दूतः सन्देशहरो यः पतङ्गः पुङ्गवः इव पतङ्गपुङ्गवो हंसश्रेष्ठः, पुमान्, गौः पुङ्गवः । 'गोरतद्धितलुकि' इति टच् । तस्य गौर्वाक् तद्गवी, पूर्ववत् टचि । 'टिड्ढाणञ' इत्यादिना ङीप् । सैव हैयङ्गवीनं ह्यो गोदोहोद्भवं घृतमिति रूपकम् । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्' इति निपातः । तद्गवी तद्धेनुः तस्या इति च गम्यते । रसात्=रागात् स्वादं स्वादं=पुनः पुनरास्वाद्य । आभीक्ष्ण्ये णमुल्प्रत्ययः। पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यं । 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः' इति उपसंख्यानात् द्विरुक्तः । तृप्तिं प्राप्तापि अपिर्विरोधे । अन्तः नितान्तं तापं न प्राप, अतुलां मूर्च्छामपि नानर्च्छ = न प्राप । 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः । 'अत आदेः' इत्यभ्यासाकारस्य दीर्घः । 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुट् । मधुमिश्रघृतस्य विषत्वात् तत्पाने तापाभावादिति विरोधः । स च पूर्वोक्तरूपकोत्थापित इति सङ्करः । 'मधुनो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी' इति बाहटः ॥१३०॥

कामदेव के बाणरूपी पुष्पों के मधु (मकरन्द) से समान रूप से मिले हुए, अपने प्रियतम नल के दूत—उस हंस—की वाणीरूपी गौ के अत्यन्त सुस्वादु और सुगन्धित ताजे घी का, (अनुराग) रस के साथ (प्रीतिपूर्वक) बारम्बार आस्वादन (पान, श्रवण) करते हुए दमयन्ती को (बार-बार आस्वादन की अभिलाषा बनी ही रही) उस से असीम तृप्ति भी नहीं हुई और न अतुल मूर्च्छा ही आयी (उल्टे) उसके अन्तःकरण में (विरहजन्य) नितान्त ताप हुआ । [जब कोई व्यक्ति मधु और घृत को समान रूप से मिलाकर खा लेता है, तब वह मूर्च्छित हो जाता है, क्योंकि घृत तथा मधु का समान भाग विषतुल्य माना जाता

है। दमयन्ती ने भी इसी प्रकार समान मात्रा में आस्वादन किया और उससे कुछ कुछ ही प्रभावित हुई। दूसरा अर्थ--दमयन्ती ने अतुल तृप्ति पाकर भी न असीम तृप्ति प्राप्त की, न सन्तप्त हुई और न मूर्च्छित ही हुई] ॥१३०॥

तस्या दृशो वियति बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः ॥१३१॥

तस्या इति। वियति = आकाशे, बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तस्या दृशः = भैमी-दृष्टेः तद्बाष्पवारि = बन्धुजनविप्रयोगजन्यं तद्दृग्जलं, न चिरात् = अ-चिरात्, अवधिर्बभूव। 'ओदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेत्' इति शास्त्रात्तद्दृक्सीमाभूदित्यर्थः। तत् तस्माद्बाष्पोद्गमादेव हेतोः, अनेन = हंसेन, दृष्टेः पार्श्वे = समीपेऽपि विप्र-चकृषे = विप्रकृष्टेनाभावि। बाष्पावरणात् समीपस्थोऽपि नालभ्यतेत्यर्थः। चित्त-वृत्तेस्तु, आरात् = दूरेऽपि न व्यवदधे = व्यवहितेन नाभावि। स्नेहबन्धान्मनसो नापेत इत्यर्थः। उभयत्रापि भावे लिट्। समीपस्थस्य विप्रकृष्टत्वं, दूरस्थस्य सन्नि-कृष्टत्वं चेति विरोधाभासः ॥१३१॥

दमयन्ती के नेत्रों के आँसू--आकाश में उस हितकारी बन्धु (हंस) के पीछे जाते--शीघ्रही सीमित हो गये (अर्थात् अपने प्रिय को, बिदाई के समय, जलाशय तक पहुँचाना चाहिए, अतः दमयन्ती की दृष्टि-अपने नेत्र-जल तक ही आकाशगामी हंस के पास जाकर, लौट आयी। इसलिए (आँसू भर आने के कारण) दृष्टि के पास होते हुए भी, वह हंस दमयन्ती की दृष्टि से ओझल तो हो गया; पर दूर जाकर भी वह हंस, दमयन्ती की चित्तवृत्ति से ओझल (दूर) न हो सका ॥ १३१ ॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि! पदवी विस्मृता किन्नु मुग्धे!
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥१३२॥

अस्तित्वमिति। अथ एकः = अनयोरेकतरो हंसः, पक्षयोः कम्पभेदैः = चेष्टाविशेषैः, कार्यसिद्धेरस्तित्वं सत्तां। अस्तीत्यव्ययं विद्यमानपर्यायं। तस्मात् त्वप्रत्ययः। स्फुटं कथयन् = व्यक्तं सूचयन् वृत्तं = निष्पन्नमेतत्सर्वं। निषध-नरपतौ = नले विषये, आख्यातुं = तस्मै निवेदयिष्यन्नित्यर्थः, प्रतस्थे। अन्यां =

दमयन्तीं, वयसा तुल्या वयस्याः = सख्यः । 'नौवयः' इति यत्प्रत्ययः । हे प्रियसखि ! मुग्धे ! कान्तारे = विषमे, निर्गतासि = सङ्कटं प्रविष्टासि । पदवी विस्मृता किंनु ? मा रोदीः, एहि, यामः = गच्छामः, इत्युपहृतवचसः = दत्तवचनाः सख्यः, एनां निन्युः ॥१३२॥

इसके बाद (हंस और दमयन्ती—इन दो में से) एक (अर्थात् हंस) तो अपने पङ्खों को फड़फड़ाकर, (दमयन्ती प्राप्तिरूप) कार्य की सफलता के सद्भाव को स्पष्टरूप से सूचना देने के लिए, दमयन्ती के साथ हुए समस्त वार्तालाप को कहने के लिए, निषधेश्वर नल के पास गया । और दूसरी (अर्थात् दमयन्ती) को उसकी सखियाँ—'हे प्यारी सखी ! तुम इस गहन उपवन में चली आयी, इससे हे मुग्धे ! क्या तुम पगडण्डी भूल गयी ? अच्छा, रोओ मत; आओ, हम सब लौट चलें'—ऐसा कहकर, घर ले गयीं ॥ १३२ ॥

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम् ।
किसलयदलतल्पग्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

सरसीति । स = हंसो यत्र सरसि नृपम् अपश्यत् = दृष्टवान्, [तत्तीरभाजः] तस्य सरसस्तीरभाजः = तटरुहस्य । [ज्वलदसमशरेषु-स्पर्धि-पुष्पर्धि-मौलेः] ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चेषोरिषुभिः स्पर्द्धत इति तत्स्पर्धिनी तत्सदृशी, पुष्पर्धिः पुष्पसमृद्धिः मौलिः शिखरं यस्य तस्य, अशोकानोकहस्य = अशोकवृक्षस्य उपमूलं = मूले । विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः । [स्मर-तरलं] स्मरेण तरलं चञ्चलं, [किसलय-दल-तल्प-ग्लापिनं] किसलयदलतल्पं पल्लवपत्रशयनं, ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन ग्लापयतीति तथोक्तं, तं = नृपं प्राप ॥१३३॥

वह हंस—जिस सरोवर पर, नल को पहले-पहल देखा था, उसी के किनारे कामदेव के चमकते हुए बाण के साथ स्पर्द्धा करने वाले, पुष्प-समृद्धि युक्त शिखर वाले, अशोक पेड़ की जड़ के पास, काम-व्यथा से विकल हो (तड़पते हुए) और कोमल पत्तों से निर्मित शय्या को (अपने शरीर-ताप से) मुरझाते हुए—नल के पास पहुँचा ॥१३३॥

परवति ! दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम किं मामाह सा शंस हंस !
इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥१३४॥

परवतीति । परवति ! = पराधीने ! दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि = नोपालभे । किन्तु हे हंस ! द्रुतं = शीघ्रमुपनम = आगच्छ । सा = दमयन्ती मां किमाह, शंस=कथय इति नले वदति = भ्रान्त्या पुरोवर्तिनं इव सम्बोध्य आलपति सति । असौ = हंसः, उपनम्रः = पुरोगतः सन्, कार्यज्ञः शशंस = कथयामास। तथा हि, सुकृतां = साधुकारिणां, 'सुकर्मपापपुण्येषु कृञः' इति क्विप् । प्रियमनु = इष्टार्थं प्रति, स्वस्पृहायाः = स्वेच्छाया एव विलम्बः । न त्विच्छानन्तरं तत्सिद्धेर्विलम्ब इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥१३४॥

हे पराये (पिता के) वश में रहने वाली दमयन्ती ! मैं तुमसे कुछ न कहूँगा (कि तुम मेरे पास चली आओ)। हे हंस ! तुम मेरे पास शीघ्र चले आओ और दमयन्ती ने मुझे जो सन्देश दिया हो, उसे बतला दो। नल के इस प्रकार कहने पर, उस हंस ने आकर, (दमयन्ती के साथ जो बातचीत हुई थी सो) सब वार्तालाप बता दिया; क्योंकि पुण्यात्मा जीवों को, अपने प्रिय (अभीष्ट) पदार्थ के सम्बन्ध में, अपनी इच्छा करने भर की देरी होती है (उसकी कार्यसिद्धि में, अभीष्ट पदार्थ प्राप्ति में, विलम्ब नहीं होता) ॥१३४॥

कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः ।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथान्वाचचक्षे ॥१३५॥

कथितमिति । स नरेन्द्रः = नलः, कथितमपि प्रियायाः = दमयन्त्याः, भाषितं = वचनं । किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास=पुनराख्यापयामास । किं च, [अतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः] अतिवेलो अतिमात्रो यः आनन्दः, स एव मार्द्वीकं मृद्वीकाविकारो द्राक्षामद्यं । 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा' इत्यमरः । तेन मत्तः सन् अधिगतं=सम्यक् गृहीतं तत् = उक्तं स्वयमपि शतकृत्वः = शतवारं।

'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' । तथा = तदुक्तप्रकारेण, अन्वाचचक्षे= अनूदितवान् । मत्तोऽप्युक्तमेव पुनः पुनर्वक्तीति भावः ॥१३५॥

नरपति नल ने 'मेरी प्यारी ने क्या कहा, फिर क्या कहा'—ऐसा पूछने के बाद, हंस के कहने पर भी, अपनी प्रियतमा दमयन्ती के कहे हुए वाक्य को, उसके मुँह से फिर-फिर दुहरवाया । तत्पश्चात् हंस के मुख से सुने हुए. दमयन्ती के वाक्य को,—जैसे-जैसे हंस ने कहा था, वैसे-वैसे–(सैकड़ो) बार-बार स्वयं भी कहा ॥ १३५ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत् तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥१३६॥

इति श्रीहर्षविरचिते नैषधमहाकाव्ये तृतीयः सर्गः ।

श्रीहर्षमित्यादि । [तार्तीयीकतया] तृतीय एव तार्तीयीकः । द्वितीय-तृतीयाभ्यामीकक् स्वार्थे वक्तव्यः । तस्य भावस्तत्ता, तया मितस्तृतीय इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥१३६॥

इति पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण–श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरि-
विरचितायां जीवातुसमाख्यायां नैषधटीकायां तृतीयः सर्गः ।

कविराज-समूहों के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरा मणि (अर्थात् असाधारण राष्ट्रकवि) श्री हीर नामक पिता तथा (अपने सौन्दर्य से मा=रमा को जीतने वाली) मा–मल्लदेवी माता ने जिस जितेन्द्रिय (विद्या-श्री से हर्षित होने वाले) श्री हर्ष-नामक पुत्र को उत्पन्न किया; उसके प्रबन्ध-महाकाव्य–(रस, भाव, अलङ्कार आदि से) मनोहर नैषधीय चरित में, स्वभावतः सुन्दर गिना जानेवाला तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥१३६॥

श्रीमन्नालाल अभिमन्यु, एम० ए०, कृत 'मदयन्तिका' टीकासहित
नैषधचरित महाकाव्य का तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥